गगनाञ्चल

वर्ष 15 अंक 3 1992

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नयी दिल्ली

प्रकाशक

वीणा सीकरी, महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नयी दिल्ली 110002

सहायक संपादक

डॉ. अमरेंद्र मिश्र

आवरण

कांतिराय

मुद्रक

विमल ऑफसेट
1/11804, पंचशील गार्डन,
नवीन शाहदरा दिल्ली-110032

शुल्क दरें

एक अंक	वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु. 5.00	रु. 20.00	रु. 50.00
£ 1.00	£ 4.00	£ 10.00
$ 2.50	$ 10.00	$ 25.00

ISSN 0971-1430

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित करती है जो हिंदी (गगनाञ्चल), अंग्रेजी (इंडियन-हराइजन्स, अफ्रीका क्वार्टरली, अरबी (सक़ाफ़त-उल-हिंद) स्पेनिश (पपेलस-दे-ला-इंडिया) और फ्रेंच (रेकौंत्र अवेकलैंद) भाषाओं में हैं। हिंदी और अंग्रेजी की शुल्क दर नीचे दी गयी है। स्पेनिश, फ्रेंच और अरबी त्रैमासिक निःशुल्क हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनाञ्चल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट
नयी दिल्ली-110002

गगनाञ्चल

वर्ष 15 अंक 3, जुलाई-सितंबर 1992

पुस्तकें

भारतीय संस्कृति में बोधिवृक्ष

गुणाकर मुले

महाराष्ट्र के अमरावती जिले के एक गांव में मेरा बचपन गुजरा। गांव के आसपास सिंदी (ताड़ की एक जाति) के बेशुमार पेड़ थे, इसीलिए उसे सिंदी-बुजरूक नाम मिला था। गांव के पश्चिमी सिरे पर, एक-दूसरे के काफी नजदीक, दो पेड़ थे—पीपल और बरगद, जिन्हें मराठी में क्रमशः पिंपळ और वड कहते हैं।

उन दो पेड़ों का कोई उपयोग नहीं था। कोई उनकी लकड़ी नहीं काटता था। हां, कभी-कभी कोई हाथी गांव में पहुंचता, तभी उसे खिलाने के लिए उन पेड़ों की टहनियां काटी जाती थीं। विशिष्ट अवसरों पर गांव की स्त्रियां उन पेड़ों की पूजा करती थीं, उनके तनों की प्रदक्षिणा करते हुए उनमें धागा लपेटती थीं और एक खास दिन 'वड-सावित्री' का व्रत भी वे रखती थीं।

पीपल और वटवृक्ष के बारे में बचपन में मेरी जानकारी बस इतनी ही थी। मुझे यह भी पता चल गया था कि महाराष्ट्र में पिंपळ गांव कई हैं, मगर इसमें मुझे कोई अनोखी बात नजर नहीं आई, क्योंकि मेरे गांव को भी एक पेड़ का ही नाम मिला हुआ था।

कुछ बड़ा होने पर, गांव में ही, संस्कृत की पढ़ाई शुरू हुई और आगे जाकर गुरूजी भगवद्गीता के श्लोकों का अर्थ समझाने लगे, तो पहली बार पता चला कि पीपल को सर्वश्रेष्ठ वृक्ष माना गया है (अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्.... 10.26)। आगे 15वें अध्याय के आरंभिक श्लोकों में अश्वत्थ के मूल-शाखा-पर्ण की विशिष्टताओं का उल्लेख करके कुछ रहस्यमय बातें भी कही गई हैं। मगर उस समय मेरे लिए यह जानने का कोई मार्ग नहीं था कि अश्वत्थ को इतना अधिक महत्व क्यों दिया गया।

गांव के बाहर आया, चौदह साल की उम्र में पहली बार, तो उसके बाद शनैः-शनैः पीपल के बारे में अधिकाधिक जानकारी मिलने लगी। स्पष्ट हुआ कि अश्वत्थ का महत्व सिर्फ गांव और गीता तक सीमित नहीं है। पता चला, धीरे-धीरे ही, कि भारतीय संस्कृति में पीपल (अश्वत्थ) का महत्व काफी व्यापक रहा है, पुरातन काल से रहा है।

सिद्धार्थ गौतम ने, आज से करीब ढाई हजार साल पहले, उरूवेला (बोधगया) के जिस वृक्ष के नीचे आसन लगाकर सम्यक् संबोधि प्राप्त की थी, उन्हें *प्रतीत्य-समुत्पाद* (एक प्रकार के कार्य-कारण संबंध में सब कुछ विच्छिन्न प्रवाह होने) के सिद्धांत का ज्ञान हुआ था, वह अश्वत्थ ही था। तभी से पीपल या अश्वत्थ को बोधिवृक्ष या बोधिद्रुम के नाम से प्रसिद्धि मिली। बुद्ध के जीवनकाल में ही बोधिवृक्ष की पूजा शुरू हो गई थी। बुद्ध के एक प्रतीक के रूप में सांची के स्तूप के तोरण-द्वारों पर बोधिवृक्ष का शिल्पांकन है। बुद्ध की मूर्तियां ईसा की पहली सदी से मिलती हैं। सांची, भारहुत और बोधगया के जिन वास्तुशिल्पों—तोरण-द्वारों और वेदिका-वेष्टनों—में बुद्ध के प्रतीक के रूप में धर्मचक्र,

बोधिवृक्ष स्तूप, उष्णीष आदि का प्रयोग हुआ है वे शुंगकाल (ईसा पूर्व दूसरी-पहली सदी) के हैं। पहली बार सांची के तोरण-द्वारों पर बुद्ध के स्थान पर धर्मचक्र और बोधिवृक्ष जैसे प्रतीकों को देखा था, तो थोड़ा चकित भी रह गया था। यह देखकर थोड़ा प्रभावित भी हुआ था कि आरंभिक बौद्धधर्म में बुद्ध-मूर्ति-पूजा के लिए कोई स्थान नहीं है।

बुद्धगया के भी पहले सारनाथ को देखने का मौका मिला था। वहां मूलगंधकुटी विहार के समीप जो बोधिवृक्ष है उसकी शाखा अनुराधपुर (श्रीलंका) से लाकर वहां रोपी गई थी, आधुनिक काल (1931) में। आज से करीब 42 साल पहले मैंने उसे एक काफी छोटे वृक्ष के रूप में देखा था, अपने सहज सामान्य रूप में। अब उसे वेदिका से घेर दिया गया है और उसके नीचे ऊंचे चबूतरे पर पंचवर्गीय भिक्षुओं की जो प्रतिमाएं स्थापित की गई हैं उन्हें मूर्तिकला की दृष्टि से उत्तम नहीं ही माना जा सकता।

सन् 1953 की बात है शायद। कलकत्ता से इलाहाबाद वापस लौट रहा था, अकेला। एकदम सुबह, करीब चार बजे, ट्रेन गया स्टेशन पहुंची, तो बुद्धगया का स्मरण हो आया, और मैं अपने थोड़े से सामान सहित प्लेटफार्म पर उतर गया। स्टेशन पर स्नान किया, सामान भी वहीं जमा करा दिया, और चल पड़ा किराए पर तिपहिया रिक्सा लेकर बुद्धगया की ओर, स्टेशन से करीब 12 कि.मी. दूर। प्रातःकाल का समय, बाईं ओर नैरंजना (नेरंजना या निरंजना, आधुनिक नीलाजन) का खूब विस्तृत किंतु लगभग सूखा रेतीला पाट, दाईं ओर हरे-भरे खेत, शुरू में कुछ पहाड़ियां और नदी तट के समीप से गुजरते रास्ते के दोनों तरफ हरित वृक्ष—बड़ा ही मनोरम नजारा था वह, जिसे मैं आज तक भूल नहीं पाया हूं।

बुद्धगया पहुंचा। महाबोधि मंदिर के दर्शन किए, बोधिवृक्ष को देखा, मंदिर के पश्चिमी भाग और बोधिवृक्ष के मध्य में उस वज्रासन-चबूतरे को देर तक देखता रहा जहां आसन लगाकर सिद्धार्थ गौतम ने तत्त्व-ज्ञान प्राप्त किया था। उस समय नहीं जानता था कि वर्तमान बोधिवृक्ष ज्यादा पुराना नहीं है, और महाबोधि मंदिर के इतिहास की भी मुझे कोई खास जानकारी नहीं थी। मैं मंदिर के उत्तरी भाग के छोटे चैत्य-स्तूपों के बीच देर तक चुपचाप अकेला बैठा रहा। उन दिनों मंदिर के आसपास आज जैसी चहल-पहल नहीं थी। उस एकांत में, प्रकृति के उस रमणीय वातावरण में, मैंने अपने भीतर एक विशेष प्रकार के संवेग का अनुभव किया, खूब सुकून मिला।

उसके पहले जब भी मैं पढ़ता कि सिद्धार्थ गौतम ने बुद्धगया में पीपल के पेड़ के नीचे बैठकर 'बुद्धत्व' प्राप्त किया, तो कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता था। लेकिन उस दिन जब मैं महाबोधि के आहाते में ढाई-तीन घंटे अकेला बैठा रहा, तो अनुभव किया कि बुद्धत्व-प्राप्ति का संबंध पीपल के वृक्ष से उतना नहीं है, जितना कि आसपास के प्राकृतिक सौंदर्य से है। बुद्ध के समय में उरूवेला का यह प्रदेश और भी अधिक रम्य रहा होगा। तथागत ने स्वयं कहा है—"भिक्षुओ, कुशल क्या है, यह जानने के प्रयोजन से मैं लोकोत्तर शांति के श्रेष्ठ स्थान की खोज करता-करता क्रमशः यात्रा करके उरूवेला के सेनानी ग्राम पहुंच गया। वहां मैंने रमणीय भूमि-भाग देखा। उसमें सुशोभित वन था और नदी मंद-मंद बह रही थी।

उसके दोनों ओर सफेद रेतीला मैदान था, उसका उतार सरल था और वह अत्यंत मनोहारी था।'' (अरियपरियेसनसुत्त, मज्झिम निकाय)

महाकवि अश्वघोष ने भी अपने संस्कृत काव्य *बुद्धचरित* में एकांतविहार में आनंद पाने वाले मुनि (बुद्ध) के नैरंजना नदी के पवित्र तीर पर निवास करने की बात लिखी है (12.90)। उरूवेला के प्राकृतिक सौंदर्य का उल्लेख *ललितविस्तर* की इस गाथा में भी है—

रमणीयान्यरण्यानि वनगुल्मश्च वीरूधाः।
प्राचीनमुरूविल्वायां यत्र नैरंजना नदी ।।

अर्थात् उरूविल्वा के पूर्व की ओर जहां रमणीय अरण्य, वनगुल्म (झाड़ी-झुरमुट), लताएं और नैरंजना नदी है।

अतः बुद्धत्व-प्राप्ति के संदर्भ में एक मुख्य चीज है, उरूवेला की पृष्ठभूमि का या नैरंजना नदी के समीप के क्षेत्र का अपार प्राकृतिक सौंदर्य, यह बात मुझे उसी समय स्पष्ट हो गई थी।

रात होने के पहले मैं बुद्धगया से गया स्टेशन लौट आया और दूसरे दिन सुबह इलाहाबाद के लिए पुनः वही गाड़ी पकड़ी। बौद्ध संस्कृति और बोधिवृक्ष के बारे में अधिक जानकारी मुझे आगे जाकर मिली। मैं प्रमुखतः विज्ञान का अध्येता रहा, इसलिए इतिहास-पुरातत्व संबंधी मेरे ज्ञान में धीरे-धीरे ही वृद्धि होती गई।

सन् 1967 में मैं श्रीलंका गया। वहां रहते एक दिन अनुराधपुर की यात्रा की, अकेले ही। यहां भी मैं सूर्योदय के पहले अनुराधपुर स्टेशन पहुंच गया था। श्रीलंका की इस प्राचीन राजधानी के इतिहास के बारे में अब मैं काफी जानकारी रखता था, गुरूवर भदंत आनंद कौसल्यायन द्वारा *महावंस* का किया हिंदी अनुवाद भी पढ़ चुका था। श्रीलंका के प्राचीन इतिहास से संबंधित इस पालि ग्रंथ में अशोक-पुत्री संघमित्रा द्वारा बुद्धगया के बोधिवृक्ष की शाखा को श्रीलंका ले जाने और उसे वहां अनुराधपुर में रोपित किए जाने का विस्तृत वर्णन है।

मगर करीब 2250 साल पहले भारत से ले जाकर अनुराधपुर में रोपित किए गए संसार के इस सबसे प्राचीन ऐतिहासिक वृक्ष को प्रत्यक्ष देखना एक अनोखा ही अनुभव था। बौद्ध नर-नारी बहुत दूर से ही हाथ जोड़ते हुए जिस श्रद्धाभाव से बोधिमंड (वृक्ष के हाते) के पास पहुंचकर नतमस्तक हो रहे थे, वह भावविभोर कर देने वाला एक अविस्मरणीय दृश्य था। इस बोधिवृक्ष की मूल शाखा जब भारत से श्रीलंका लाई गई थी, तब अभी कहीं भी बुद्ध की मूर्ति नहीं बनी थी। तब बुद्ध और बौद्धधर्म का सर्वाधिक पूज्य प्रतीक बोधिवृक्ष ही था।

श्रीलंका में भी बौद्धधर्म ने कई उतार-चढ़ाव देखे। श्रीलंका के बौद्ध शासकों को अनुराधपुर छोड़कर अपनी राजधानी दक्षिण में ले जानी पड़ी। अनुराधपुर के स्मारकों को भी क्षति पहुंची। परंतु वहां का बोधिवृक्ष फलता-फूलता रहा। लेकिन बुद्धगया के बोधिवृक्ष

और महाबोधि मंदिर का इतिहास भिन्न रहा। श्रीलंका के वीरपुत्र *अनागारिक धर्मपाल* 1891 में पहली बार महाबोधि का दर्शन करने बुद्धगया पहुंचे, तो वहां की दुर्दशा देखकर उन्हें मार्मिक पीड़ा हुई और उन्होंने महाबोधि का उद्धार करने का संकल्प किया। मगर आज तो, एक प्रकार से, अनुराधपुर की भी दुर्दशा ही है। पच्चीस साल पहले मुझे अनुराधपुर की यात्रा करने में कोई कठिनाई नहीं हुई थी, परंतु आज किसी सिंहली बौद्ध के लिए भी अनुराधपुर के बौद्ध स्मारकों का दर्शन करना सहज सरल प्रयास नहीं है। उस दिन मैं अनुराधपुर के नजदीक के *मिहिंतले* नामक उस पर्वतीय स्थान को भी देख आया जहां, बताया जाता है कि, अशोक-पुत्र महेंद्र सर्वप्रथम उतरे थे। वहां की कुछ गुफाओं में अशोककालीन ब्राह्मी लिपि में कुछ संक्षिप्त शिलालेख भी मैंने देखे।

एक लंबे अंतराल के बाद इस साल जुलाई में मेरा पुनः सारनाथ जाना हुआ। इधर कुछ अरसे से बुद्धगया काफी चर्चा में है, इसलिए सोचा, महाबोधि के भी पुनः एक बार दर्शन कर लूं। सुबह हम गया स्टेशन उतरे। वहां से, एक दिन पहले ही शुरू हुई सरकारी बस सेवा से, बुद्धगया पहुंच गए। रास्ता पहले जैसा ही है—हरा-भरा। नैरंजना भी वैसी ही है—खूब चौड़े रेतीले पाट वाली; मगर बरसात के दिन थे, इसलिए काफी तेजी से बह रही थी। उसके आकर्षण में कोई कमी नहीं आई थी।

मगर बुद्धगया और महाबोधि मंदिर? काफी चहल-पहल थी अब वहां। काफी कुछ बदला हुआ लगा। मुख्य पूर्वी द्वार से नीचे उतरनेवाली सीढ़ियां और मंदिर तक पहुंचने वाला मार्ग अब संगमरमर का था। मंदिर की दीवारों के बाहरी आलों में जो बुद्ध-मूर्तियां हैं उनमें कितनी असली हैं और कितनी नकली, यह जानना कठिन है, क्योंकि उन पर भद्दा रंग पोत दिया गया है।

अब बुद्धगया में कई बौद्ध देशों के भव्य मंदिर और आलीशान विश्राम-गृह हैं। जापानियों ने वहां एक विशाल बुद्ध मूर्ति बनाई है, जिसकी ऊंचाई संभवतः वहां के बोधिवृक्ष से भी ज्यादा है!

इस बार महाबोधि का परिसर मुझे उतना रमणीय और शांत नहीं लगा, जितना कि पहली यात्रा के समय लगा था। हां, इस बार वज्रासन को और वेदिका-वेष्टन के स्तंभों के अवशेषों को मैंने खूब ध्यान से देखा—संग्रहालय में भी। यही दो चीजें अब उरुवेला के सबसे प्राचीन बौद्ध पुरावशेष हैं। बीजानुबीज से वहां का बोधिवृक्ष तो प्राचीनतम बौद्ध प्रतीक है ही।

इस बार की बुद्धगया-यात्रा के समय तक बोधिवृक्ष संबंधी मेरी पुरानी जानकारी में काफी वृद्धि हो चुकी थी। बुद्धगया की यात्रा के बाद भी मैंने विभिन्न स्रोतों से बोधिवृक्ष अथवा अश्वत्थ के बारे में काफी सूचनाएं एकत्र की। एक अच्छी पुस्तक हाथ लगी—'बुद्ध और बोधिवृक्ष' (डॉ. शीला सिंह), जिसकी सामग्री और सूचनाओं से मुझे अपनी जानकारी बढ़ाने में बड़ी मदद मिली।

बचपन में गांव के बाहर आने के बाद स्पष्ट हुआ था कि अश्वत्थ का महत्त्व केवल

गांव व गीता तक सीमित नहीं है। इस बार की बुद्धगया-यात्रा के बाद स्पष्ट हुआ कि अश्वत्थ का महत्त्व केवल बुद्धगया और बौद्धधर्म तक सीमित नहीं है। भारतीय संस्कृति में अश्वत्थ या बोधिद्रुम का शाश्वत महत्त्व रहा है, यह बात आगे के विवरण से सुस्पष्ट हो जाएगी।

अमरकोष के 'वनौषधिवर्ग' में पीपल के पांच नाम दिए गए हैं—बोधिद्रुम, चलदल, पिप्पल, कुंजराशन और अश्वत्थ। स्पष्ट है कि बोधिद्रुम या बोधिवृक्ष शब्द बौद्धधर्म के साथ ही अस्तित्व में आए हैं। मगर पिप्पल और अश्वत्थ शब्द वैदिक साहित्य—ऋग्वेद व अथर्ववेद—में भी देखने को मिलते हैं। ऋग्वेद में अश्वत्थ की लकड़ी से एक प्रकार की कलछी बनाए जाने का उल्लेख है। उसमें पिप्पल शब्द पीपल के फल (गोदा) के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद में अश्वत्थ के ज्यादा उल्लेख हैं। शत्रु के विनाश के लिए आयोजित अनुष्ठानों (सपत्नक्षयकामः) में अश्वत्थ का काफी उपयोग होता था। तावीज या भुजबंध के लिए इसका उपयोग होता था। आग पैदा करने के लिए प्रयुक्त होने वाली अरणी की दो लकड़ियों में ऊपरी लकड़ी (उत्तरारणी) अश्वत्थ की होती थी और नीचे की लकड़ी (अधरारणी) खदिर या शमी की होती थी।

उपनिषदों में अश्वत्थ के अनेक उल्लेख हैं, और उनमें इस शब्द के नाना अर्थ लगाए जाते हैं। कोई अश्वत्थ को सनातन मानता है, तो कोई इसे *न श्वश्चिरं* (कल न रहने वाला, क्षण-भंगुर) बताता है। जो भी हो, प्राचीन उपनिषदों के समय में भी अश्वत्थ की बड़ी महिमा रही है।

अश्वत्थ (पालि-प्राकृत में *अस्सत्थ*) शब्द के मूल अर्थ के बारे में विद्वान एकमत नहीं हैं। इसका शाब्दिक अर्थ होगा—घोड़ों का स्थान या जिसके नीचे घोड़े खड़े रहते हैं। मगर कई विद्वान इस अर्थ को स्वीकार नहीं करते। अश्वत्थ की ही तरह के अन्य वृक्ष-नाम हैं—कपित्थ (कैथ), कुलत्थ (कुलथी) और दधित्थ (कैथ)। ये सभी वृक्ष-नाम संस्कृत मूल के नहीं जान पड़ते।

पिप्पल से ही आज का पीपल शब्द बना है। मूलतः पिप्पल शब्द संभवतः उन पक्षियों के लिए प्रयुक्त हुआ जो पीपल का गोदा (पका फल) खूब चाव से खाते हैं। पिप्पलाद या पिप्पलाशन का अर्थ ही है, पीपल का गोदा खाने वाला (ऋषि)। अथर्ववेद की *पैप्पलाद* शाखा प्रसिद्ध है।

पीपल को कुंजर या कुंजराशन भी कहा गया है। हाथी इसकी छोटी शाखाओं और इसके पत्तों को खाते हैं, इसीलिए इसे कुंजराशन या गजभक्ष्य कहा गया है। पीपल के पत्ते मंथर गति से सदैव हिलते रहते हैं, इसलिए इसे चलदल या चलपत्र कहा गया है। प्राचीन साहित्य में पीपल के लिए और भी कई नाम मिलते हैं।

वैदिक साहित्य में अश्वत्थ के उल्लेख है, इसलिए बाद के पौराणिक साहित्य में भी इस वृक्ष के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। वैदिक काल में किसी वैदिक देवता को अभी अश्वत्थ

के साथ नहीं जोड़ा गया था, मगर पौराणिक काल में अश्वत्थ पूजनीय वृक्ष बन जाता है और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को इसके साथ किसी न किसी रूप में जोड़ दिया गया है। गीता में कृष्ण से भी कहलाया जाता है—वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूं।

परंतु भारतीय संस्कृति में अश्वत्थ की महिमा को वैदिक साहित्य और विष्णु या कृष्ण जैसे देवताओं तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता । अश्वत्थ (पीपल) का वैदिक संस्कृति से भी अधिक महत्त्व सिंधु सभ्यता (हड़प्पा संस्कृति) में देखने को मिलता है।

सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थलों से प्राप्त अनेक मुद्राओं पर अश्वत्थ की शाखाओं और इसके पत्तों का स्पष्ट उत्कीर्णन है। ऐसी भी कई मुद्राएं हैं जिनमें एक नग्न पुरुषाकृति को पर्ण-युक्त पीपल के खोल के बीच में खड़ी दर्शाया गया है। यह सिंधुजनों का *अश्वत्थ-अधिष्ठात्री-देवता* हो सकता है। इस अधिदेवता के सामने वंदन-मुद्रा में झुकी हुई एक अन्य पुरुष-आकृति है। इस आकृति के आगे या पीछे जिस पशु का अंकन है वह वृषभ और बकरे का जुड़वां रूप जान पड़ता है। ऐसी एक मुद्रा में ऊपर सिंधु लिपि के कुछ संकेत हैं और नीचे लंबे बालों वाली सात स्त्री या पुरुष आकृतियां हैं। ऐसी ही एक अन्य मुद्रा पर लंबे बालों वाली पांच आकृतियां ऊपर की ओर हैं।

एक अन्य मुद्रा में एकशृंग पशु के जुड़वां मस्तकों को और पर्णयुक्त अश्वत्थ को एक ही मूल से उत्पन्न दिखाया गया है। एक ऐसी भी मुद्रा है जिसमें दो पुराषाकृतियों को अश्वत्थ के दोनों और खड़ा और एक-एक हाथ से उसे स्पर्श करते हुए दर्शाया गया है।

सभी बातों पर विचार करके निष्कर्ष निकलता है कि सिंधु सभ्यता में अश्वत्थ की तो पूजा होती ही थी, अश्वत्थ-देवता की भी पूजा होती थी। संभव है कि यही सिंधु जनों का प्रमुख देवता भी रहा हो। जो भी हो, प्रतीत होता है कि सिंधु सभ्यता में अश्वत्थ का महत्त्व वैदिक सभ्यता से कहीं ज्यादा रहा है। ठेठ सिंधु सभ्यता के समय से, संभवतः उसके भी काफी पहले से, नव-पाषाण युग से, अश्वत्थ की और अश्वत्थ-देवता की भारत में पूजा होती आ रही थी, इसलिए वैदिक काल में भी इस वृक्ष को महत्त्व दिया गया और बुद्ध के समय में यह अतिपूज्य 'ज्ञान-वृक्ष' बन गया। अश्वत्थ-पूजा की वैदिक-पूर्व प्रथा किसी न किसी रूप में भारत के सभी प्रेदशों में आज भी प्रचलित है।

पीपल का *फीकुस रेलीजिओसा* एक सार्थक वैज्ञानिक नाम है। पीपल के मूल स्थान के बारे में यकीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता, मगर आज यह समूचे भारत में पाया जाता है। इस वृक्ष को मंदिरों, मठों, विहारों, स्तूपों तथा अन्य धार्मिक स्थलों के नजदीक लगाया जाता है, इसीलिए इसे *रेलीजिओसा* नाम दिया गया है।

अश्वत्थ एक विशाल, खूब घना और बहुशाखीय वृक्ष है। बड़ के वंश के सभी भारतीय वृक्षों में यह प्रायः सबसे बड़ा होता है। आरंभिक अवस्था में पीपल के पौधे प्रायः अन्य वृक्षों पर उगते हैं, इसलिए ये अधिपादप (एपीफाइट) कहलाते हैं। अथर्ववेद का उल्लेख है—'अश्वत्थ, जैसे तुम खदिर की त्वचा को भेदकर उत्पन्न होते हो, अन्य वृक्षों को भी दबाकर वृद्धि को प्राप्त होते हो और दूसरी वनस्पतियों को दबाते हो, उसी प्रकार

मेरे शत्रुओं को कुचलकर उनका नाश करो।' अश्वत्थ की इसी विशेषता के कारण अथर्ववेद में इसे *वैबाध* (विनाशकारी) कहा गया है। जैसा कि सभी जानते हैं, पीपल के पौधे दीवारों की दरारों में जम जाते हैं और इनकी धीरे-धीरे बढ़ती हुई जड़ों से दीवारें फट जाती हैं।

पीपल के वृक्ष में वटवृक्ष (न्यग्रोध) जैसी लटकती जड़े नहीं होती। मगर कहीं-कहीं अश्वत्थ को जमीन के ऊपर की उसकी खुली जड़ों के कारण ऊर्ध्वमूल कहा गया है (जैसे गीता में)। इसलिए उसके न्यग्रोध होने का भ्रम होता है। मगर ऐसा नहीं है। अश्वत्थ ही पीपल है, बोधिवृक्ष है। न्याग्रोध वटवृक्ष है।

पीपल के पत्ते चौड़े, चिकने, चमकदार और 'हृदयाकार' होते हैं। इनके सिरे पर काफी लंबी नोंक होती है। इनके डंठल भी काफी लंबे होते हैं। पत्ते प्रातः नीचे लटकते रहते हैं और धीमी हवा में भी सारे के सारे हिलते रहते हैं, इसीलिए अश्वत्थ को चलपत्र भी कहा गया है। पीपल की पुष्पडोडी जाडों में निकलती हैं और पत्तों के कक्ष में लगती है। पीपल के पके फल को चिड़ियां बड़े चाव से खाती हैं।

पीपल की आयु अन्य वृक्षों की तुलना में बहुत लंबी होती है। पीपल का रोपण सरल है। इसे बीज या कलम से लगाया जा सकता है। चिड़ियों द्वारा खाए गए पीपल के फलों के बीज प्राकृतिक रूप से उग आते हैं। जलाशयों के नजदीक अश्वत्थरोपण को परंपरा से पुण्यकार्य माना गया है, परंतु ज्यादा पानी पाकर इसकी जड़े गहरी न जाकर सतह के पास दूर-दूर तक फैल जाती हैं, और तब आंधी-तूफान में यह पेड़ आसानी से गिर सकता है।

पीपल की लकड़ी के इस्तेमाल पर भले ही पाबंदी लगी हो, परंतु आयुर्वेद के *चरक-संहिता, सुश्रुत-संहिता, अष्टांग-हृदय* आदि ग्रंथों में पिप्पल अथवा अश्वत्थ के कई रोगनाशक गुण बताए गए हैं। प्राचीन काल से ही अश्वत्थ पूजा की अविरल परंपरा का एक कारण इस वृक्ष का रोगनाशक होना भी रहा है।

बुद्ध के समय (563-483 ई.पू.) में देश में ऐसे मंदिर नहीं बनते थे जिनमें किसी देवता की मूर्ति स्थापित की जाती हो। प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधि वैदिक देवताओं का महत्व कुरू प्रदेश में ज्यादा था। काशी-कौशल और मगध की तरफ वृक्ष-पूजा तथा वृक्ष-देवता जैसे लोक विश्वासों को अधिक महत्व प्राप्त था। यही कारण है कि बुद्ध के जीवन में भी हम वक्षों का अधिक महत्व देखते हैं।

बौद्ध जातकों में, जिनकी संख्या 547 है, भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएं हैं। इनमें तीस से भी कुछ अधिक ऐसी कथाएं हैं जिनमें बोधिसत्व वृक्ष-देवता के रूप में जन्म लेते हैं। ऐसे कुछ वृक्ष हैं—खदिर, वट (न्यग्रोध), नीम, आम्र, कुशा आदि। स्पष्ट है कि वृक्ष-देवता के विश्वास का खूब प्रचलन था और उससे बलिकर्म भी जुड़ा हुआ था। मगर दिलचस्प बात यह है जातक-कथाओं में ऐसा एक भी उल्लेख नहीं है कि बोधिसत्व ने किसी पूर्वजन्म में अश्वत्थ वृक्ष-देवता के रूप में जन्म लिया हो!

बुद्धवंस में और *जातक* की निदान-कथा में गौतम बुद्ध के पहले के जिन दीपंकर, कौण्डिन्य आदि 24 बुद्धों (24 तीर्थंकरों की तरह) की जानकारी है वह बाद की कल्पना

लगती है, परंतु उनमें महत्व की बात यह है कि प्रत्येक बुद्ध का अपना कोई न कोई बोधिवृक्ष रहा है। उनमें चार-पांच बुद्धों का बोधिवृक्ष अश्वत्थ है।

बुद्ध के समय में वृक्ष-पूजा के प्रचलन का, वृक्ष-देवता के अस्तित्व में गहन आस्था का, सबसे ठोस सबूत है सुजाता की कथा। उरूवेला प्रदेश के सेनानी ग्राम की तरूणी सुजाता ने न्यग्रोध बरगद से प्रार्थना की थी—"अच्छे कुल-घर में ब्याहकर जाने के बाद पहली ही बार पुत्र-प्राप्ति होगी, तो प्रतिवर्ष मैं तुम्हारी बलिकर्म-पूजा करूंगी।" उसकी वह प्रार्थना पूरी हुई, बलिकर्म करने की इच्छा से वैशाख-पूर्णिमा के दिन सुबह उसने खूब बढ़िया खीर पकाई, और अपनी दासी पूर्णा से कहा—"वृक्ष-देवता के स्थान को साफ कर आ।" पूर्णा ने बरगद के पास पहुंचकर देखा कि उसके नीचे आसन लगाकर कोई (बोधिसत्व) बैठा हुआ है। उसने सोचा—आज वृक्ष-देवता नीचे उतकर स्वयं ही बलि ग्रहण करने को बैठे हैं, और जल्दी से जाकर यह बात उसने सुजाता को बताई। सुनकर सुजाता बहुत प्रसन्न हुई। वह खीर से भरी थाल लेकर बरगद के पास गई, वहां आसन लगाकर बैठे हुए बोधिसत्व को वृक्ष-देवता समझकर उसने उन्हें प्रणाम किया और खीर की थाल अर्पित की।

सुजाता की भिक्षा ग्रहण करके बोधिसत्व ने नैरंजना नदी के किनारे भोजन किया और सांयकाल को वे पीपल (अश्वत्थ) के नीचे आ बैठे। वहीं पर उसी वैशाख पूर्णिमा की रात के अंतिम याम में सिद्धार्थ गौतम को तत्व-बोध यानी प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धांत का बोध हुआ। इसीलिए उरूवेला का पीपल (अश्वत्थ) का वह वृक्ष संबोधि या महाबोधि या बोधिवृक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बौद्ध साहित्य में महाबोधि की महिमा का विशद वर्णन है।

ललितविस्तर के अनुसार सर्वप्रथम बुद्ध ने ही, महाबोधि के नीचे सप्ताह भर विमुक्ति का आनंद लेने के बाद, आगे एक सप्ताह तक कुछ दूर से महाबोधि को बिना पलक मारे हुए (अनिमिष) पूजा की थी (सप्तरात्रं वरबोधिवृक्षं, संप्रेक्ष धीरः परमार्थदर्शी)। यह भी पता चलता है कि बोधिवृक्ष के नीचे एक सप्ताह बीत जाने पर तथागत *अजपाल-न्यग्रोध* के पास गए और उसके नीचे एक सप्ताह बैठे रहे। उसके बाद उन्होंने नागराज देवता के द्योतक *मुचलिंद* वृक्ष के नीचे एक सप्ताह गुजारा। उसके बाद उन्होंने *राजायतन* वृक्ष के नीचे एक सप्ताह तक समाधि लगाई। अंत में बुद्ध पुनः अजपाल-न्यग्रोध के नीचे गए और काफी तर्क-वितर्क बाद, उन्होंने प्राप्त-ज्ञान का जनता में प्रचार करने का निर्णय लिया।

विहारों में बोधिवृक्ष लगाकर उसकी पूजा करने की प्रथा भी बुद्ध के समय में, उनकी अनुमति से ही, आरंभ हो गई थी। *कलिंग बोधि जातक* (नं. 479) की कथा है कि, तथागत जब जेतवन में न रहते तब श्रीवस्ती वासी, पूजा-स्थान न देखकर गंध-माला आदि को कुटी द्वार पर ही गिराकर चले जाते। अनाथपिंडक ने आनंद से इसका समाधान पूछा। तथागत के जेतवन में लौटने पर आनंद ने पूजा-स्थान के बारे में उनसे पूछा—"भन्ते, चैत्य कितने हैं?"

"आनंद, तीन।"

"भन्ते, कौन से?"

"शारीरिक, पारिभोगिक तथा उद्देशिक।"

"भन्ते, क्या आपके जीते जी भी चैत्य बन सकता है?"

"आनंद, शारीरिक चैत्य नहीं बन सकता। वह तो बुद्धों का परिनिर्वाण होने पर ही होता है। उद्देशिक चैत्य अवास्तविक होता है, केवल मानसिक। किंतु बुद्धों द्वारा उपभुक्त महाबोधि जीते जी भी और परिनिर्वाण होने भी चैत्य ही है।"

"भन्ते, तुम्हारे चारिका के लिए चले जाने पर जेतवन विहार निराधार हो जाता है, मनुष्यों के लिए कोई पूज्य-स्थान नहीं रह जाता। भन्ते, महाबोधि से बीज लाकर जेतवन-द्वार पर लगाता हूं।"

"अच्छा, आनंद लगा। ऐसा होने पर जेतवन में मेरा स्थायी निवास-सा होगा।"

आगे की कथा है कि बोधिमंड (उरूवेला) जाकर बोधिबीज लाया गया और उसे जेतवन विहार में रोपा गया।

स्वयं बुद्ध ने अपने जीवन के अंतिम क्षणों में, जब वे कुसीनारा के समीप के शालवन में मृत्युशय्या पर लेटे हुए थे, अपने जीवन से संबंधित चार संवेजनीय (वैराग्यप्रद) स्थल बताए थे : "आनंद, श्रद्धालु कुल-पुत्र के लिए यह चार स्थान दर्शनीय, संवेजनीय हैं। कौन से चार? (1) जहां तथागत पैदा हुए (लुम्बिनी) (2) जहां तथागत ने सम्यक संबोधिक को प्राप्त किया (बुद्धगया), (3) जहां तथागत ने धर्मचक्र प्रवर्तन किया (सारनाथ), और (4) जहां तथागत अनुपादि-शेष निर्वाण-धातु को प्राप्त हुए (कुसीनारा)।" (महापरिनिब्बान सुत्त)

इस प्रकार, बौद्धधर्म के उदय के साथ पीपल के पेड़ को एक नई प्रतिष्ठा मिली। वृक्ष-देवता का प्रतीक तो वह पुरातन काल से रहा है, अब वह बुद्धत्व-प्राप्ति और बुद्ध का भी प्रतीक बन गया, बोधिवृक्ष हो गया। उरूवेला (बुद्धगया) के बोधिमंडप की पूजा-अर्चना शुरू हो गई। बौद्ध ग्रंथों में महाबोधि की महिमा का वर्णन होने लगा। महाबोधि के लिए वेदिका-वेष्टन और बोधिघर बनने लगे।

कोसल (राजधानीः श्रावस्थी, जहां के जेतवन में बुद्ध ने अनेक वर्षावास गुजारकर सबसे ज्यादा उपदेश दिए) का राजा पसेनदि (प्रसेनजित्) तथागत को बहुत मानता था। पता चलता है कि उसने बुद्धगया के बोधिवृक्ष के चहुंओर दो प्राकार बनवाए थे, जो लकड़ी के रहे होंगे।

अशोक का राज्याभिषेक 270 ई. में हुआ और देहांत 232 ई. पू.। उसके आठवें शिलालेख में स्पष्ट जानकारी है कि राज्याभिषेक के बाद दस वर्ष गुजर जाने पर, अर्थात 260 ई. पू. में, उसने संबोधि (बुद्धगया) की यात्रा की थी। लुम्बिनी, सारनाथ आदि अन्य बौद्ध तीर्थों की तरह बुद्धगया में भी अशोक ने स्तूप व स्तंभ खड़े किए होंगे, महाबोधि के

चहुंओर प्रस्तर के प्राकार बनवाए होंगे। सांची के बड़े स्तूप के पूर्वी तोरण-द्वार पर अशोक के हाथी से उतरकर बोधिवृक्ष के पास पहुंचने का भव्य शिल्पांकन है। भारहुत के एक शिल्पांकन से पता चलता है कि अशोक ने संबोधि व वज्रासन को घेरते हुए स्तंभों पर आधारित एक बोधिघर भी बनाया होगा। मगर अशोक के उन स्मारकों के आज बुद्धगया में कुछ ही प्रस्तर-चिह्न उपलब्ध हैं।

लगता है कि अशोक ने महाबोधि की एक से अधिक बार यात्रा की थी। *अशोकावदान* में जानकारी है कि अशोक की अग्रमहिषी तिष्यरक्षिता ने बोधि को सपत्नी समझकर उसे नष्ट करवाने का प्रयत्न किया था। राजा ने बोधि को सूखते जाते देखा, तो रानी को समझाया। तब बोधिवृक्ष की खूब सेवा की गई और वह पूर्ववत हो गया।

सिंहल के इतिहास-ग्रंथ *महावंस* में अशोक-पुत्र महेंद्र स्थविर के श्रीलंका पहुंचने, उनके बाद अशोक-पुत्री संघमित्रा का महाबोधि-शाखा लेकर ताम्रलिप्ति से नाव में चढ़कर श्रीलंका पहुंचने और वहां अनुराधपुर में महाबोधि के रोपण का विस्तृत वर्णन है। महावंस में बोधि-शाखा ग्रहण करने के लिए स्वयं अशोक के महाबोधि के पास जाने का उल्लेख है। इसमें यह भी उल्लेख है कि राजा अशोक ने तीन बार महाबोधि की पूजा की।

इतिहास-ग्रंथ बताते हैं कि मौर्य वंश का उच्छेदन करने वाला पुष्यमित्र शुंग (ईसापूर्व दूसरी सदी) ब्राह्मण-धर्म का पुरस्कर्ता और बौद्धधर्म का घोर शत्रु था। मगर आश्चर्य की बात है कि शुंगकाल (ईसा पूर्व दूसरी-पहली सदी) में ही बौद्ध वास्तुशिल्प का खूब विकास हुआ। उसी काल में भारहुत (नागोद, मध्य प्रदेश) के भव्य स्तूप बने, उनकी वेदिकाएं बनीं। उसी काल में सांची-स्तूप के तोरण-द्वारों का तक्षण हुआ। भारहुत और सांची की शिल्पकला में बुद्ध का अंकन बोधिवृक्ष के माध्यम से हुआ है। इनमें पहचाना जा सकता है कि उस समय बुद्धगया के बोधिघर किस तरह के रहे होंगे। उस समय तक अभी बुद्ध की मूर्तियां नहीं बनी थीं। उस समय अभी बुद्धगया के बोधिवृक्ष के समीप कोई मंदिर भी नहीं बना था।

अश्वत्थ-पूजा, व्यापक रूप से वृक्ष-पूजा, आम जनता में काफी पहले से प्रचलित थी, इसलिए लगभग उसी समय से सिक्कों पर भी वेदिका-वेष्टनी-युक्त बोधिवृक्ष को स्थान मिलने लगा। मौर्य साम्राज्य के विघटन के तुरंत बाद, ईसा पूर्व दूसरी सदी में, दक्खन में स्थानीय शासकों ने अपने-अपने राज्य स्थापित किए। ये महारठि (महाराष्ट्रीय) शासक थे। इनमें से *सदकन* कुल के शासकों के सिक्कों के एक ओर ब्राह्मी लेख है और दूसरी ओर वेदिका-युक्त बोधिवृक्ष है। बाद के अन्य महारठि कुलों के सिक्कों पर भी वेदिका-युक्त बोधिवृक्ष का अंकन है। दक्षिण भारत के पाण्ड्य क्षेत्र से मौर्यकाल के तुरंत बाद के जो पंचमार्क सिक्के मिले हैं, उन पर भी वेदिका-युक्त वृक्ष का अंकन है। वेदिका-युक्त वृक्ष का अंकन यौधेय, मालव आदि जनपदों के और मित्र राजवंश के सिक्कों पर भी देखने को मिलता है।

बुद्धगया से विभिन्न काल के बहुत सारे अभिलेख मिले हैं। इनमें सबसे प्राचीन हैं

वेदिका-वेष्टनी के शिलास्तंभों पर उत्कीर्ण दानलेख। इनमें कौशिकी पुत्र इंद्राग्निमित्र की रानी कुरंगी के 15 लेख हैं (अयाये कुरूंगिये दानं), उसकी चेटिका सिरिमा का लेख है और ब्रह्ममित्र की रानी नागदेवी का लेख है। ये लेख 50 ई. पू. से 50 ई. के बीच के काल के हो सकते हैं। उस समय की वेदिका-वेष्टनी काफी छोटी थी और केवल बोधिवृक्ष और वज्रासन को ही घेरती होगी।

हमारे देश में बुद्ध मूर्तियां ईसा की प्रथम सदी से बननी शुरू हुईं—सर्वप्रथम गांधार और मथुरा में। कुषाणकाल में मथुरा बौधधर्म और मूर्तिकला का एक महान केंद्र बना। बुद्धगया से हुविष्क के समय की एक बुद्ध मूर्ति, जिस पर लेख है, और उसकी एक स्वर्णमुद्रा मिली है। मूर्तियां स्थापित होने लगीं, तो बुद्धगया में महाबोधि मंदिर का निर्माण और विस्तार शुरू होने में भी ज्यादा देर नहीं थी। मगर यहां हम बुद्धगया के महाबोधि मंदिर के इतिहास की चर्चा नहीं करेंगे।

फाहियान, युवान-च्वाङ् आदि अनेक चीनी यात्री बुद्धगया पहुंचे और उन्होंने बोधिवृक्ष, महाबोधि मंदिर और आसपास के स्मारकों की विशद जानकारी दी। युवान-च्वाङ् के समय का महाबोधि मंदिर लगभग आज जैसा ही था। श्रीलंका का महाबोधि से बड़ा गहरा संबंध रहा है। श्रीलंका के शासकों ने बुद्धगया में विहार बनवाए, खूब दान दिए। उनके अभिलेख बुद्धगया के इतिहास पर काफी प्रकाश डालते हैं।

जनश्रुति है कि गौड़ शासक शशांक ने बोधिवृक्ष को नष्ट कर दिया था। मगर उसके तुरंत बाद पूर्णवर्मा ने बोधि वृक्ष की पुनः स्थापना की और मंदिर का पुनरूद्धार किया। युवान-च्वाङ् ने इसी नए मंदिर और बोधिवृक्ष को देखा था। उसके बाद कई बार मंदिर का पुनरूद्धार हुआ। इसमें पाल शासकों और बर्मी राजाओं का भी योगदान रहा। मगर तेरहवीं सदी से बुद्ध गया के स्मारक लगभग पूर्णतः उपेक्षित रहे, धीरे-धीरे खंडहर बनते गए। पिछली सदी के उत्तरार्ध में जनरल कनिंघम की देखरेख में महाबोधि की मरम्मत की गई। मरम्मत करते समय पुराना बोधिवृक्ष गिर गया, तो उसी की एक शाखा वहां पुनः रोपित कर दी गई। वही है बुद्धगया का आज का बोधिवृक्ष—बीजानुबीज या शाखानुशाखा से ढाई हजार साल पहले का वही मूल अश्वत्थ वृक्ष जिसके नीचे बैठकर सिद्धार्थ गौतम ने ज्ञान प्राप्त किया था।

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार संघमित्रा द्वारा महाबोधि की शाखा श्रीलंका में अनुराधपुर ले जाकर वहां रोपित की गई थी। *दीपवंस* और *महावंस* जैसे इतिहास-ग्रंथों में अनुराधपुर के उस बोधिवृक्ष के बारे में जानकारी मिलती है। बाद में यह जानकारी विस्तृत रूप से देने के उद्देश्य से *महाबोधिवंस* नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा गया। श्रीलंका के सभी बौद्ध विहारों में बोधिवृक्ष हैं। वस्तुतः बोधिवृक्ष ही भारत और श्रीलंका के सांस्कृतिक संबंधों का सबसे बड़ा जीवंत प्रतीक है। कमोबेश रूप में यही बात बर्मा, थाईलैंड, कंबोडिया और इंडोनेशिया पर भी लागू होती है। बारोबुडुर के भव्य स्तूप के शिल्पांकन में बोधिवृक्ष

को विशेष महत्व दिया गया है। वस्तुतः समूचे बौद्ध जगत में बोधिवृक्ष का वैसा ही सम्मान होता है जैसा कि बुद्ध का।

सिंधु सभ्यता में अश्वत्थ-पूजा का प्रचलन था और किसी न किसी रूप में भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में आज भी इसका प्रचलन है। ढाई हजार साल पहले यह पुरातन अश्वत्थ-पूजा बोधिवृक्षा-पूजा में रूपांतरित होकर धीरे-धीरे सारे देश, देश के बाहर भी फैलती गई। आज दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया को एकसूत्र में बांधने वाला सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रतीक है—बोधिवृक्ष। □

गुणाकर मुले : वैज्ञानिक विषयों के प्रसिद्ध लेखक। भारत के प्राचीन गणित, खगोलशास्त्र नक्षत्र, वास्तुशिल्प, धातुकर्म, रसायन, पुरावशेषों के विद्वान्। वेद, उपनिषद्, संस्कृत वांग्मय का गहन अनुशीलन, सांस्कृतिक परंपराओं का आधुनिक अवधारणाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण का महत्वपूर्ण कार्य।
संपर्क : 'अमरावती', सी-210, पांडव नगर, दिल्ली-110092
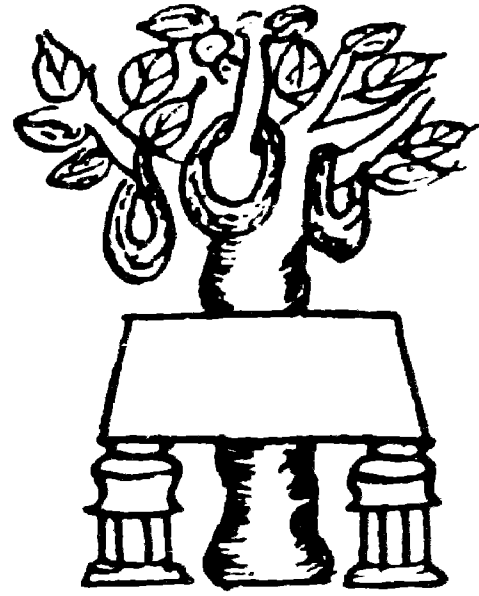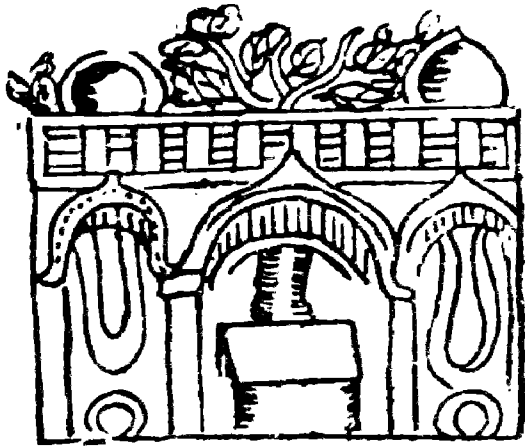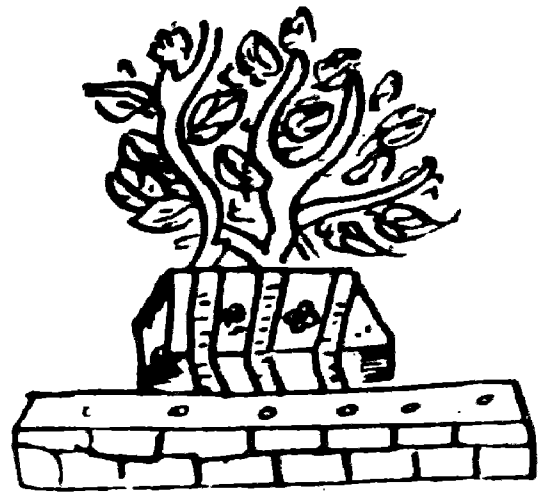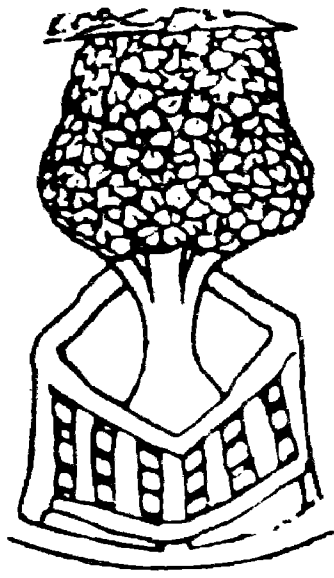
ऊपर बाईं ओर का बोधिवृक्ष व वेदिका का शिल्पांकन बुद्धगया से और शेष तीन भारहुत से
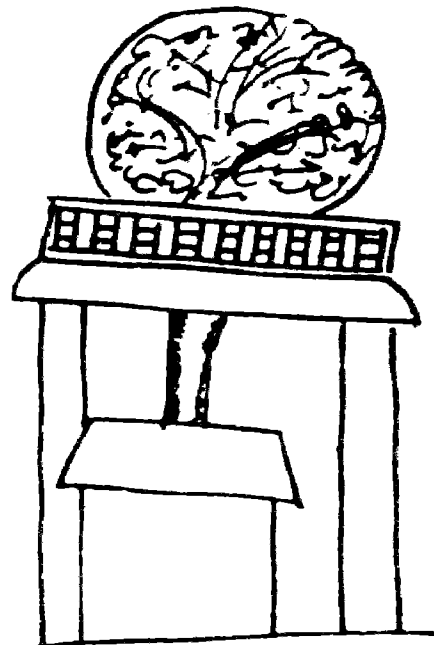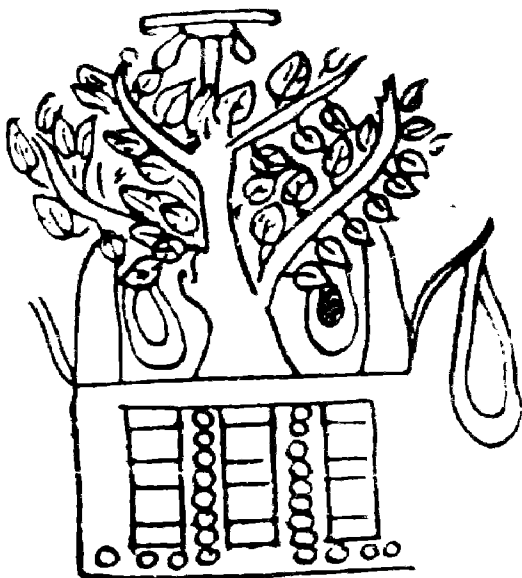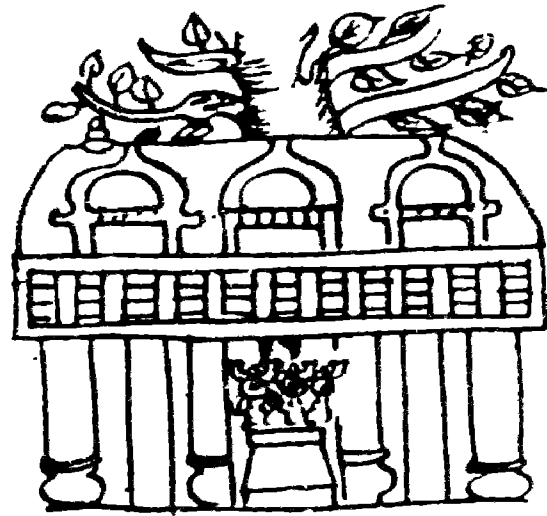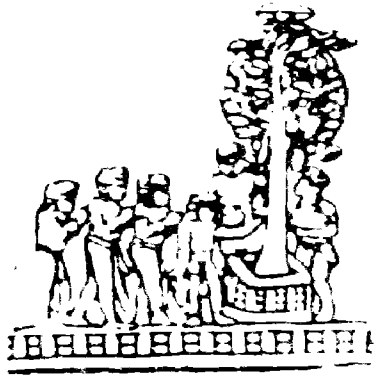
सांची के शिल्पांकनों में बोधिवृक्ष, वेदिका और बोधिघर
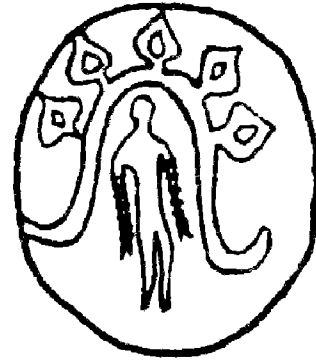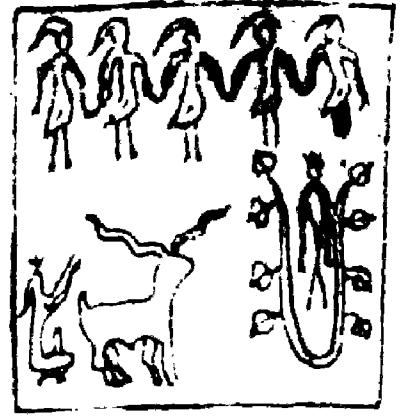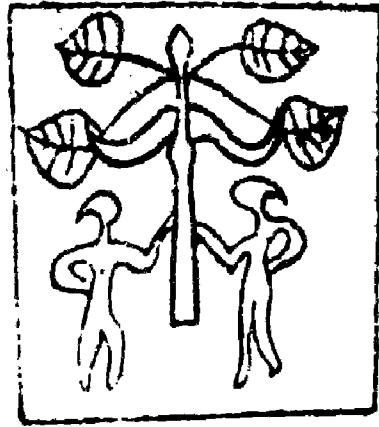
सिंधु मुहरों पर अश्वत्थ और अश्वत्थ-देवता का उत्कीर्णन

(बाईं ओर) सीसे की सदकन महारठि मुद्रा,
पुरोभाग : वृषभ और ब्राह्मी लेख,
पृष्ठभाग : वेदिका-युक्त वृक्ष और अन्य चिन्ह।
(दाईं ओर) वत्स (कोसंबी) की ताम्रमुद्रा,
पुरोभाग : वृषभ, पृष्ठभाग : वेदिकायुक्त वृक्ष और चक्र, चैत्य आदि चिन्ह।
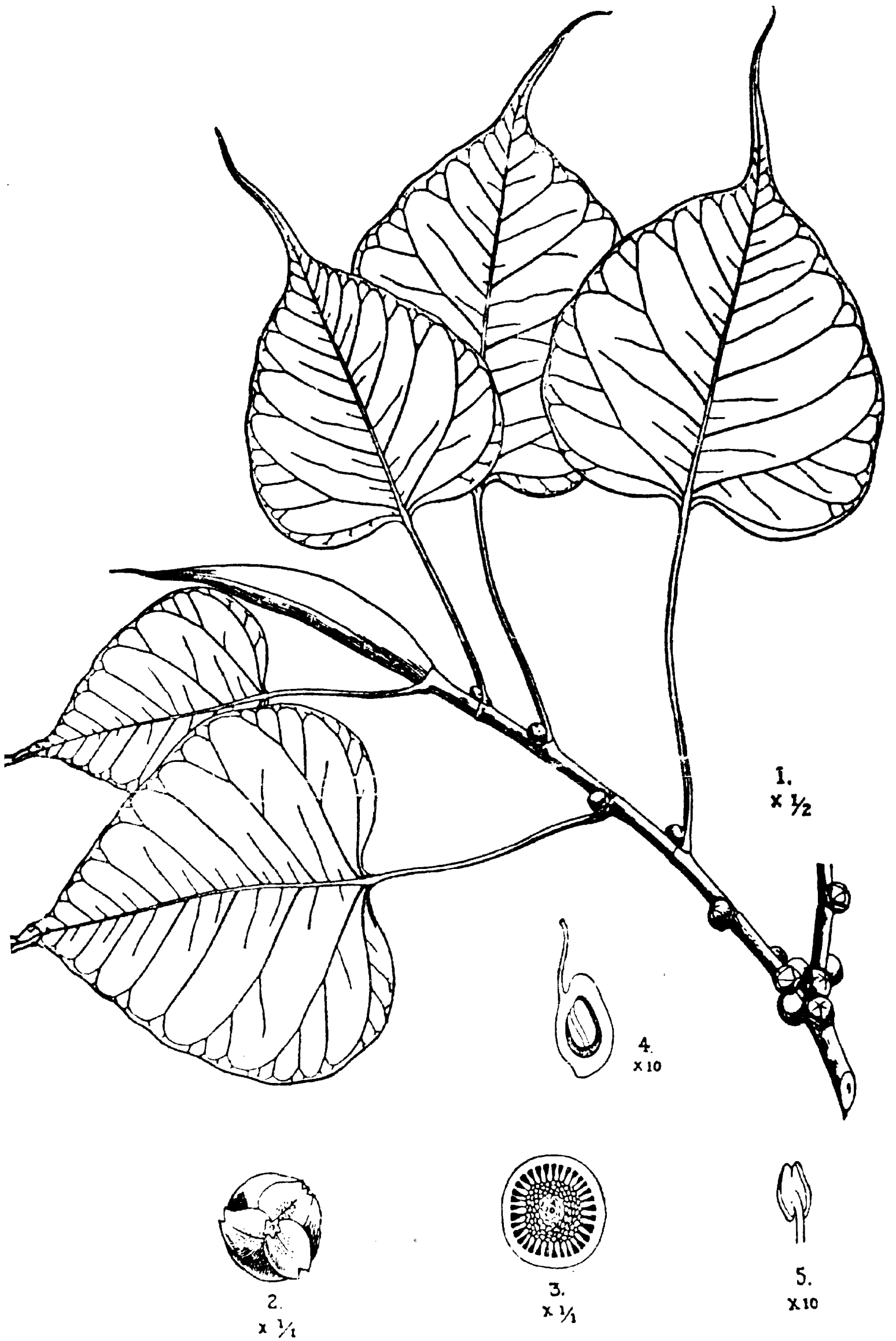
1. अश्वत्थ (पीपल) की पर्ण व पुष्पधर युक्त एक शाखा, 2. पुष्पधर, नीचे से,
3. फल का काट 4. स्त्रीकेसर, 5. पुंकेसर

भारतीय संस्कृति और कल्पवृक्ष

डॉ. दिनेशचंद्र अग्रवाल

भारतीय संस्कृति में वृक्षोपासना का विशिष्ट महत्व रहा है। यहां वृक्षों की मान्यता पूज्य देवताओं के रूप में मानव कल्याण तथा मांगल्य के आधार पर प्रतिष्ठित रही है। 'महाभारत' के अनुसार किसी ग्राम में स्थित फलों व पत्तों से भरा वृक्ष उस ग्राम के लिए चैत्य अथवा देवालय माना जाता है—'एको वृक्षोहि यो ग्रामे भवेत वर्ग फलान्वितः। चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीय सुपूजितः।।'-वनपर्व-138/25। इसके अतिरिक्त वैदिक दार्शनिकों ने तो वृक्ष को विश्व रूप एवं विश्व पुरूष रूप में देखा था- 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्यत्येकः तेनेदं पूर्ण पुरूषण सर्वम्।'-श्वेताश्वर उपनिषद्-3/1

विविध आध्यात्मिक विचारों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के आधार पर वृक्ष को विविध नामों से संबोधित किया गया तथा विविध वृक्षों को विविध देवताओं के रूप में पूजा जाता रहा है। वृक्षों में देवत्व की प्रेरणा से ही बौद्ध जातक कथाओं में 'रूक्खधम्म' जातक (जा. सं. 74) का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें रूक्खदेवता की महत्ता तथा देवत्व का विस्तृत विवेचन हुआ। वृक्ष देवत्व की परंपरा भारत में चार सहस्त्राब्दी पूर्व से संप्रति युग तक चली आयी है। भारतीय प्राचीनतम सभ्यता के प्रमुख स्थल सिंधु घाटी स्थित मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री वृक्ष महात्म्य की प्राचीन परंपरा की पुष्टि करती है।

वृक्ष मान्यता की परंपरा की ही एक अनूठी देन है—'कल्पवृक्ष'। लोक कल्याण, दार्शनिक भाव, अलौकिकता, रहस्यमय चमत्कार तथा दिव्यता के संगम से अंकुरित हुआ कल्पवृक्ष भारतीय संस्कृति की अनुपम उपलब्धि के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। कल्पवृक्ष स्वर्गलोक का वह सनातन महावृक्ष है जिसकी छत्रछाया में मानव की कोई मनोकामना तुरंत पूरी हो जाती है। इसकी वरद् शक्ति अमोघ है। अवश्य ही कल्पवृक्ष ऋद्धि-सिद्धियों का कोई अपूर्व आश्रय स्थल होगा जिसके अक्षय भंडार में पार्थिव मनुष्य की अभिलाषा-पूर्ति के साधन सदैव बने रहते हैं। यदि हम इसके नीचे अमृत की कामना करें तो वह भी प्राप्त हो सकता है और यदि मृत्यु की इच्छा भी हमारे मन में बलवती हो जाय तो वह भी तत्काल प्राप्त हो जाती है। ऐसा पौराणिक साहित्यों में भी उल्लिखित है।

कुछ साहित्यिक स्त्रोतों से ज्ञात होता है कि सदियों पूर्व ऐसी भी धारणा बन गयी थी कि सृष्टि के अत्यारंभ में अथवा कभी किसी युग में महाप्रलय और विनाश-विध्वंश के फलस्वरूप सारी भूमि जलप्लावित हो गयी थी तथा संपूर्ण ब्रह्माण्ड विषाक्त वायुमंडल से घिरा हुआ था। चारो ओर फैले विषैले वातावरण व पर्यावरण में कोई जीवित नहीं रह सकता था। तब किसी कालांश में भूमि सहित एक वृक्ष का उद्‌भव हुआ जिसने वायुमंडल से विषैले तत्त्वों को शोषित कर आत्मसात कर लिया था और शुद्ध करके वायुमंडल को जीवों

के अस्तित्व योग्य बनाया। इस आदिवृक्ष को प्राचीन कल्पना में वह पारिजात कहा गया जिसकी छाया में पृथ्वी पर सुखद जीवन से भरे क्षेत्र का विकास हुआ और इसी को कल्पवृक्ष भी कहा गया।

इसके अतिरिक्त एक और कथानक की कल्पना विकसित हुई जो 'महाभारत' में उल्लिखित है जिसमें देवताओं और असुरों द्वारा महासागर-मंथन की घटना का विवेचन है। उस मंथन के फलस्वरूप जिन चौदह दिव्य रत्नों की उपलब्धि हुई उनमें कल्पवृक्ष भी था जिसे कहीं-कहीं उल्लेखों में पारिजात भी कहा गया। इस कथानक की वर्णन शैली आध्यात्मिक पुट लिए हुए है जो मानव के भीतर दैवी और आसुरी वृत्तियों के परस्पर संघर्ष का विवेचन करता है। इसमें अथाह महासागर मानव-मन ही है। इससे भी पूर्व वैदिक संहिताओं में मनुष्य का शरीर पूर्णघट या कलश है ऐसा बताया गया है तथा मानव को ही समुद्र से भी संबोधित किया गया है। अतएव मानव का मन ऐसा मानस-सागर है जिसमें विरोधी वृत्तियों व विचारों का अक्षय भंडार निहित है। जीवन में इसी समुद्र का मंथन सबके लिये अनिवार्य कर्त्तव्य है। उसी मानसिक मंथन से होती चतुर्दश उपलब्धियों का संबंध मानवीय आंतरिक तत्त्वों से है। यह विचार-उपलब्धियां विविध भावमूलक तत्त्वों का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्त्व करती हैं। इसी प्रक्रिया से ही विचारों को फलीभूत करने के लिए कर्म का संकल्प रूपी कल्पवृक्ष प्रस्फुटित होता है जो अक्षय है।

मानव के भीतर स्थित केंद्रीय नाड़ी जाल पूर्वी और पश्चिमी देशों के साहित्य में एक वृक्ष के रूप में भी वर्णित है; पश्चिम में इसे ARBOR VITAL (TREE OF LIFE) कहा गया है। अनेक नाड़ी शाखा-प्रशाखाएं इस वृक्ष के अंग प्रत्यंग हैं। प्रकृति ने यह वृक्ष प्रत्येक प्राणी में जन्म के साथ ही रोपा है। इसी वृक्ष संज्ञा को पूर्व में कल्पवृक्ष कहे जाने का आधार 'कल्पना' में निहित है। क्योंकि 'कल्पना' और 'कल्प' एक ही क्रिया धातु 'कल्प' से बने हैं; 'कल्प' में सन् और 'वि' उपसर्ग जोड़ने से क्रमशः संकल्प और विकल्प बनते हैं। सन् उपसर्ग जीवन की अंतर्मुखी गति को बताता है और 'वि' बहिर्मुखी गति को। संकल्प मनुष्य को समाधि की ओर ले जाता है जबकि विकल्प व्याधि की ओर। मानस-शक्ति का रहस्य संकल्प या समाधि है जबकि नाना विकल्पों से मन की व्याधि की ओर अभिमुख होने से उसकी शक्ति क्षीण होती है। मन का स्थूल रूप मस्तिष्क है जहां विचार उत्पन्न होते हैं। मस्तिष्क में ही ज्योति लोक है जो सदैव प्रकाशित रहता है। अतएव इसे स्वर्ग भी कहा गया है। इसी भाव से कल्पवृक्ष को स्वर्ग लोक का वृक्ष कहा गया है।

विशिष्ट वानस्पतिक वृक्ष के रूप में भी कल्पवृक्ष के अस्तित्व में होने की संभावनाएं हैं। भारतीय संस्कृति नितांत काल्पनिक और निराधार नहीं वरन् मूलतः यथार्थ से ही प्रेरित रही है। भारत में उपलब्ध केवल 'गोरखचिंच' या 'गोरखइमली' नामक वृक्ष में ही कल्पवृक्ष के अधिकांश गुण विद्यमान हैं; अन्य कोई भी वृक्ष कल्पवृक्ष कहलाये जाने का अधिकारी नहीं हुआ। इस वृक्ष का अंग्रेजी नाम 'बाओबाब ट्री' और वनस्पति विज्ञान की भाषा में इसे 'एडन्सोनिया डिजिटेटा' कहा जाता है। यह वृक्ष दो हजार से पांच हजार वर्षों तक की आयु

के पाये गये हैं। यद्यपि इस वृक्ष का मूल स्थान अफ्रीका में माना गया है किंतु हमारे देश में गुजरात के समुद्री अंचल, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, पांडिचेरी, दमन, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में गोरखचिंच अच्छी संख्या में पाये गये हैं। महाराष्ट्र में औरंगाबाद और विश्वविख्यात अजंता के आसपास भी ये वृक्ष बहुत पाये गये हैं। महाराष्ट्र में तो लोग इसकी पूजा भी करते हैं। प्रतीत होता है कि प्राचीन साहित्य में वर्णित कल्पवृक्ष यही रहा होगा। उल्लेखनीय है कि औरंगाबाद स्थित एलोरा के गुफा मंदिरों में गु. सं. 32 के मूर्ति शिल्प में एक वृक्ष की अभिव्यक्ति की गयी है जिसकी पत्तियों व फलों के रूप के आधार पर तो प्रथम सामान्य दृष्टि में वह आम का वृक्ष लगता है किंतु विशेष ध्यान देने पर वह बाओबाब ट्री की पत्तियों और फलों का सादृश्य लिये हुए है। इसी वृक्षाकृति पर एक बंदर की आकृति भी है जिससे इसके बाओबाब होने की संभावना और भी बढ़ जाती है क्योंकि बंदर इस वृक्ष के फलों को बड़े चाव से खाते हैं तथा इसी कारण इसका दूसरा नाम मंकी ब्रेड ट्री भी है। इस वृक्ष पर प्रायः मोर भी बैठे रहते हैं; इसी से प्रेरित होकर मोर की आकृति भी इस वृक्ष पर बनायी गयी है। भारत में अधिकांश मूर्ति शिल्प चारो ओर विद्यमान समकालीन प्राकृतिक संपदा को प्रतिबिंबित करते हैं।

महाकवि कालिदास ने हिमालय तथा सुमेरू पर्वतीय क्षेत्र में कल्पवृक्षों के होने का स्पष्ट उल्लेख किया है जिसमें हिमालय के औषधिप्रस्थ नगर का वर्णन करते हुए कवि कहता है—कल्पवृक्षों की चंचल शाखाएं उस नगरी (औषधिप्रस्थ) की झंडियां थीं—('यत्र कल्प द्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः ..... निर्मिता' (कुमार सम्भवम्- 6/41) एक अन्य स्थान पर सुमेरू पर्वत पर कल्पवृक्षों के होने का संकेत कवि ने इस प्रकार दिया है—'नेपथ्य-दर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्यमयेविरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव'-रघुवंशम्-17/26। 'मेघदूतम्' में भी कवि ने कैलाश पर्वत की गोद में बसी अलका पुरी में भी कल्पवृक्षों के होने का संकेत दिया है। 'महाभारत', 'रामायण' तथा 'वायु पुराण' में उत्तर कुरू प्रदेश में कल्पवृक्षों के होने के उल्लेख मिलते हैं (महाभारत-भीष्मपर्व 7/2-113 रामायण-किष्किंधा काण्ड-43/43-48; वायु पुराण-45/11-50)

स्वर्गलोक में कल्पवृक्ष के होने के तो अनेक संदर्भ विविध युगीन साहित्य में उपलब्ध हैं। सागर मंथन की अलौकिक घटना में जन्मे कल्पवृक्ष को देवतागण स्वर्गलोक में ले गये जहां अन्य वृक्ष पारिजात, संतानक, मंदार तथा हरिचंदन भी थे। यद्यपि यह पांचों देव वृक्ष सदैव पुष्पित और पल्लवित रहने वाले वृक्ष माने गये हैं किंतु मानवी लोक समाज को संपन्नता और समृद्धि प्रदान करने की सर्वाधिक सामर्थ्य केवल कल्पवृक्ष में ही विद्यमान रही। किसी समय पृथ्वी पर भयंकर विनाश के फलस्वरूप मानव-जीवन के लिए आवश्यक मूलभूत सामग्री एवं धन-धान्य के समाप्त हो जाने से मानव समाज में त्राहि-त्राहि मच गयी। तब लोक कल्याण के लिये मानव की सभी आवश्यकताओं व कामनाओं की पूर्ति करने वाले वृक्षों को पृथ्वी पर ऋषि-मुनियों व अन्य तपस्वियों द्वारा स्वर्ग से लाया गया। पौराणिक साहित्य में वर्णित इस विषद घटना के अतिरिक्त अन्य कथानक भी हैं जिनसे प्रेरित होकर

शिल्पियों ने कई कलाकृतियों की रचना की। राजस्थानी चित्रकला की मेवाड़शैली में पारिजात वृक्ष को पृथ्वी पर लाने की विलक्षण घटना को अभिव्यक्त करता हुआ, 1540 ई. में निर्मित एक चित्र हेरामानिक संग्रह, अमेरिका में सुरक्षित है। इसी विषय को अभिव्यक्त करता हुआ दूसरा अन्य चित्र सोहली चित्रण शैली में 1780 ई. में निर्मित है, जो संप्रति राजा ध्रवदेव चंद, लंबग्रांड, कांगड़ा (हि.प्र.) के संग्रह में दर्शनीय है।

प्राचीन जैन साहित्य में दस भांति के कल्पवृक्षों के होने का उल्लेख है—मिष्ठान प्रदान करने वाला तूर्यांग वृक्ष, रत्नादि प्रदान करने वाला भूषणांग वृक्ष, प्रकाश प्रदान करने वाला ज्योति वृक्ष, भोजन प्रदान करने वाला भोजनांग वृक्ष, मद्य प्रदान करने वाला मद्यांग वृक्ष, वस्त्र प्रदान करने वाला वस्त्रांग वृक्ष, घर प्रदान करने वाला गृह-वृक्ष, दीप प्रदान करने वाला दीपांग वृक्ष, बर्तन प्रदान करने वाला भाजनांग वृक्ष तथा मालाएं प्रदान करने वाला मालांग वृक्ष। ये दस प्रकार के कल्पवृक्ष दस प्रकार की महान सुख-सामग्री प्रदान करते थे—'तुरियंग भोयणंगा, विहूसणंगा मयंग वत्थंगा। गिह जोइ दिवियंगा भायण मल्लंग कप्पदुमा।'—(विमल सूरि कृत पउमचरिय 3/3/7 तथा श्रावकाचार, वसुनंदि, श्लोक 25) वाल्मीकि कृत रामायण के अनुसार अनेक प्रकार के वस्त्र, जड़ाऊ आभूषण, सभी प्रकार के शयन, मालाएं, भोजन पेय और रूप-यौवन से भरपूर गुणवती स्त्रियां कल्पवृक्षों की शाखाओं से उत्पन्न होते हैं (किष्किन्धा काण्ड-43/43-48)। महाभारत में भी कल्पवृक्षों की ऐसी ही सामर्थ्य का विवरण मिलता है (भीष्म पर्व 7/2-11), बौद्ध जातक कथा 'महावाणिज्जातक' के अनुसार कुछ व्यापारी निधि की खोज में निकलते हैं और ढूंढ़ते हुए एक विशाल कल्पवृक्ष की छाया में पहुंचते हैं जिसकी पूर्वी शाखा से जल की धाराएं, दक्षिणी शाखा से अन्न पान, पश्चिमी शाखा से स्त्रियां और उत्तरी शाखा से सभी इच्छित सामग्री उत्पन्न हो रही थीं—('वारिदा पुरिमा साखा अन्नपानंच दक्खिणा। नारिदा पच्छिमा साखा सव्व कामे च उत्तरा।।' जातक 4/352)

कल्पवृक्ष के रूप तथा गुणों का सबसे सुंदर व कलात्मक वर्णन कालिदास की रचनाओं में मिलता है। 'मेघदूतम्' के अनुसार कल्पवृक्षों से स्त्रियों के लिये विविध रंगों वाले वस्त्र, नेत्रों में बांकपन बढ़ाने वाली मदिरा, विविध आभूषण, पैरों को मंडित करने वाला महावर तथा स्त्रियों के श्रृंगार की सभी सामग्री उत्पन्न होती है—('वासश्चित्रं मधुनयो-र्बिभ्रमादेशदक्षं .... सकलमबलामंडनं कल्पवृक्षः।' उत्तरमेघदूतम्-12) विविध वाद्यों की मंद मंद ध्वनि से कल्पवृक्षों से रतिफल नामक मदिरा टपकने लगती है—उत्तरमेघ-5। इस मदिरा को मधु और अनंगदीपक भी कहा गया है—कुमार संभवम्-8/75)। कवि ने कल्प-वृक्ष से बहुमूल्य रत्न उत्पन्न होने का उल्लेख किया है—'तत्कृतानुग्रहापेक्षी .... कल्पद्रुमानि भूषणैः।' कुमार सम्भवम्-2/39) विविध प्रकार के सुंदर व रंगीन वस्त्र कल्पवृक्षों से उत्पन्न होते हैं—('पश्य कल्पतरूलम्बि ... विपरिवृत्तमंशुकम्।' कुमार 8/71) 7वीं शती के विख्यात कवि बाण भट्ट ने 'कादंबरी' में इन वस्त्रों को कल्पलतादुकूल तथा कल्पद्रुमदुकूल कहा है तथा कल्पलता से आभरण उत्पन्न होने का उल्लेख किया है—('परिस्फुरदाभरणसमूहेनेव

कल्पलतानिवहेन' कादम्बरी) कल्पवृक्षों से चलने वाली वायु में प्राणदायिनी शक्ति होती है— (अभिज्ञान शाकुंतलम्-7/12) मानव के सभी मनोरथ कल्पवृक्ष से ही पूरे हो जाते हैं— ('सानीयमाना ... नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम्।' रघुवंशम्-14/48) मानव को इससे अधिक और क्या चाहिए! संपन्नता और समृद्धि का स्रोत होने के कारण ही इसे श्रीवृक्ष भी कहा गया है।

साहित्य से प्रेरित होकर शिल्पियों ने कल्पवृक्षों के प्रति युग और समाज की मान्यता व आस्था को अपनी कृतियों में साकार कर दिया। कल्पवृक्ष का सबसे भव्य अंकन जो लोक सांस्कृतिक परंपरा को प्रतिबिंबित करता है, लगभग तीसरी शती ई.पू. युग का है और बेस्स नगर (विदिशा, म.प्र.) से प्राप्त हुआ है। इसमें नीचे एक चौकोर वेदी पर बने गोल थामले के भीतर से एक विशाल कल्पवृक्ष विकसित हो रहा है। इस पर धन से भरे दो थैले लटक रहे हैं जिनके बीच में कार्षापण मुद्राओं से भरा एक घड़ा लटका हुआ है। वृक्ष के एक ओर शंख और दूसरी ओर कमल उत्कीर्ण हैं जिनसे रजतमुद्राएं निकल रही हैं। शाखाओं से आभूषण लटक रहे हैं। यह कल्पवृक्ष महायक्ष कुबेर के ध्वज स्तंभ का शीर्ष भाग था और संप्रति इंडियन म्यूजियम कलकत्ता की शोभावृद्धि कर रहा है।

द्वितीय शती ई. पू. युग के सांची व भरहुत बौद्ध स्तूपों की वास्तुसज्जा में अनेक अभिप्रायों (मोटिफ्स) में कल्पलता व कल्पवृक्ष को अत्यंत सुंदरता तथा कलात्मकता के साथ बनाया गया है जिनमें समकालीन समाज में प्रचलित विविध आभूषणों, वस्त्रों, घरों, मिथुनों, वाद्य बजाती अप्सराओं, भोजन, पेय तथा अन्य सुख-सामग्री को निकलते हुए दिखाया गया है। यह कलाकृतियां इंडियन म्यूजियम कलकत्ता; नगर पालिका संग्रहालय-इलाहाबाद विश्वविद्यालय; राज्य संग्रहालय-लखनऊ, पुरातत्व संग्रहालय-सांची म.प्र. तथा अन्य स्थानों पर सुरक्षित हैं। महाराष्ट्र में द्वितीय शती ई. पू. की भाजा गुफाओं में लेखक को एक अनजान कलाकृति में कल्पवृक्षों की सुंदर आकृतियां देखने का अवसर मिला जिनमें से एक वृक्ष आभूषणों से लदा हुआ था और दूसरे वृक्ष की शाखाओं से युवतियां निकल रही थीं। प्रथम शती ई. पू. कालीन बौद्ध गया (बिहार) के बौद्ध शिल्प में एक कल्पवृक्ष की शाखाएं हाथ के रूप में बाहर फैली हुई हैं जो विभिन्न रत्न, आभूषण व वस्त्र लिए हुए हैं और एक मनुष्य उनको ग्रहण कर रहा है।

अनेक शिल्पियों ने अपने कौशल तथा रचनात्मक प्रतिभा से अनेक कलाकृतियों का निर्माण किया जिनमें इस अनोखे वृक्ष को विविध कलात्मक तथा नूतन रूप-कल्पना में प्रस्तुत किया। इस प्रकार यथार्थ और कल्पना की अनोखी जुगलबंदी लिए हुए यह कल्पवृक्ष सदियों तक विविध युग और समाज की कला एवं साहित्य की पगडंडियों पर पदयात्रा करता रहा है। अब कहां है यह! अपने स्वार्थ में अंधा हुआ, आज का मूढ़मति मानव समाज निर्दयतापूर्वक हरे-भरे वनों का तीव्रता से विनाश कर रहा है। वह अपने ही मूक हितैषी वृक्षों पर कुठाराघात कर अपने अस्तित्व को ही समाप्त करने जा रहा है, तो फिर अब कहां मिलेगा कल्पवृक्ष! □

कालिदास की शकुंतला की विश्व-यात्रा

प्रो. इंद्रनाथ चौधुरी

मध्ययुग के यूरोपीय यात्रियों और कवियों के लिए हिंदुस्तान स्वप्नों का देश था। राहबनुस मॉरस का कहना है कि यहां सांवले रंग के लोग रहते हैं; हाथी, तोते, काली मिर्च और दारचीनी मिलती है। अरना घोड़ा पाया जाता है। नदी के नाम पर यहां देश का नाम रखा गया है। सोना और कीमती पत्थर बहुतायत से हैं तथा ऋषि, मुनियों का गहरा ज्ञान भी मिलता है। यहां भारत के बारे में प्राचीन काल से ही यह धारणा प्रकट की गई कि भोग तथा तप का समन्वित रूप ही भारत है। कालिदास के 'शकुंतला' नाटक में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है जहां एक ओर होमधूम से तपोवन के पल्लवों के विवर्ण और जलाशय के पथ का मुनियों के सिक्त वल्कल से चूती हुई जलरेखा से अंकित होने की बात कही गई है तो दूसरी ओर प्रकृति के द्वारा नवमल्लिका से वन ज्योत्स्ना को संकेत भेजने की बात का भी उल्लेख है। निश्चय ही यह संकेत साममंत्र का संकेत नहीं, प्रिय मिलन की उत्सुकता का संकेत है।

'शकुंतला नाटक' की पूरी पटभूमिका ही इस प्रकार की है। एक ओर उद्वेलयौवना ऋषिकन्या, नवपुष्पिता वनतोषिणी, तरु अंतरालवर्ती मुग्धराजा के चित्र हैं तो और दूसरी ओर 'नांदी' में ईश्वरवंदना है, 'भरत वाक्य' में जीवन मुक्ति की प्रार्थना है और बीच में मानव की भोग से भोगातीत की यात्रा का वर्णन है।

अठा‌रवीं शती में, सन् 1757 के पलासी के युद्ध के बाद देश के एक बहुत बड़े हिस्से पर कंपनी बहादुर यानी ईस्ट इण्डिया कंपनी का कब्जा हो गया। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने अपनी सत्ता यहां कायम कर ली। राज्य करते हुए अंग्रेजों को यह एहसास हुआ कि भारतीय संस्कृति, उसकी पुस्तकें और लेखकों से, उसकी परंपरा से, उसकी अवधारणात्मक दुनिया से परिचित होने पर ही यानी उनके सोचने का जो तरीका है उसी के आश्रय से उन पर अधिकार किया जा सकता है। बंगाल के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स की यह धारणा थी और उसी के मुताबिक योजनाएं बनाई गईं। अंग्रेज प्राच्यविदों की सहायता से भारत को पहचानने का काम शुरू हुआ जिनमें विलियम जोन्स (1746-1794) का नाम सबसे पहले आता है। उसके बाद चार्ल्स विलकिंस (1749-1836) तथा कोलब्रुक (1765-1837) के नाम लिए जाते हैं। इन प्राच्यविदों ने सीधे संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद शुरू किया। जोन्स ने 1748 में एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की इससे वैज्ञानिक विशेषज्ञता को बल मिला और प्राच्यविद्या की खातिर प्राच्य-विद्या के प्रसार की एक नई भूमिका सामने आयी। इसके फलस्वरूप विलियम जोन्स, विलकिंस तथा कुछ अंश में कोलब्रुक ने यह कहना शुरू किया कि भारत की मिथकीय, धार्मिक तथा दार्शनिक परंपरा बड़ी प्राचीन तथा प्रिसटाइन है। इन

प्राच्यविदों ने भारतीय हिंदू आचार-व्यवहार के प्रति एक खुलेपन का प्रदर्शन किया। जोन्स ने तो एक खास विचार-दृष्टि का विस्तार किया कि प्राच्य तथा पाश्चात्य धार्मिक तथा दार्शनिक चिंतनधारा का मूलस्रोत एक ही रहा है।

एशियाटिक सोसायटी की स्थापना के बाद संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद शुरू हुआ। सन् 1785 में वारेन हेस्टिंग्स की भूमिका के साथ विलकिंस ने भगवद्गीता का अनुवाद प्रकाशित किया। सन् 1787 में विलकिंस ने हितोपदेश का अनुवाद प्रकाशित किया। जोन्स ने सन् 1787 में 'शकुंतला' का अनुवाद (Sacontala or The Fatal ring) प्रकाशित किया और सन 1796 में मनुस्मति का। फिर कोलब्रुक के ज्योतिर्विज्ञान, गणित और दर्शन पर महत्त्वपूर्ण अनुवाद प्रकाश में आए। सन् 1789 दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण वर्ष है—एक, फ्रांसीसी क्रांति और दो, शकुंतला का अनुवाद। सन् 1790 से लेकर सन् 1807 तक इसके पांच संस्करण प्रकाशित हुए। बाद में सन् 1870, 1883, 1885, 1887, 1899 तथा 1901 में इसका दसवां संस्करण सामने आया। जोन्स ने अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि यह सुनने को मिला था कि इस नाटक में प्राचीन इतिहास है मगर इतिहास में तो कथा (fable) जुड़ी नहीं होगी, इसमें कथा है। दरअसल उनका कहना था कि इस देश के इतिहास को जानने की इच्छा से ब्राह्मणों से बात करने पर पता चला कि इस नाटक में इतिहास नहीं और इसमें कथा जुड़ी है। मुझे लगा कि यह नाटक नैतिक और साहित्यिक विषयों पर एक संवाद है तथा नृत्य, संगीत और काव्य पर एक विवेचन है। राधाकांत ने उन्हीं दिनों यह स्पष्ट किया था कि नाटक ही प्ले है और शकुंतला संस्कृत का श्रेष्ठ नाटक है। जोन्स ने पहले शकुंतला का लैटिन अनुवाद किया फिर उससे अंग्रेजी में और उसे विदेशी भाषा के मुहावरे की रूढ़िवादिता से मुक्त किया। जोन्स के अनुसार यह नाटक ज्ञानरूप है। इसमें हिंदुओं के आचार-व्यवहार का पता सुंदर तरीके से दिया गया है। यह नाटकीय काव्य है। इसमें संस्कृत तथा विभिन्न प्राकृतों का उपयोग है तथा इसकी कथा पौराणिक मिथकों से ली गई है। मारीच, अदीति, इंद्र रूपकात्मक पात्र हैं। चरित्र चित्रण के बारे मे जोन्स का कहना था कि चूंकि लोगों की अनुभूति तथा रुचि में अंतर होता है इसीलिए शकुंतला के आस्वाद के बारे में मेरे लिए कुछ कहना संभव नहीं। तात्पर्य यह है कि साहित्य में शाश्वतता का प्रश्न नहीं उठता। जोन्स नाटक में सिर्फ दो अंक घटाने के पक्ष में थे। उनके अनुसार तीसरे में दूसरा और पांचवें में छठा जोड़ा जा सकता है। जोन्स ने कालिदास को 'शेक्सपीयर ऑफ इंडिया' कहा और साथ में यह भी कहा कि भारत में इसे सही ढंग से खेला जा सकता है। जोन्स के अंग्रेजी अनुवाद ने सिर्फ शकुंतला नाटक ही नहीं, भारत के प्रति भी यूरोपीय विद्वानों की उत्सुकता बढ़ा दी। इस नाटक को विदेशियों के लिए सबसे बड़ा कौतूहल माना जाने लगा। मगर इसे पाश्चात्य नाटक परंपरा के साथ जोड़ने की कोशिश नहीं की गई। यही कहा जाता रहा कि लोगों की अपनी रुचि होती है, अपने विचार होते हैं, अपना मनोभाव होता है इसीलिए यह नाटक इस देश में खेला नहीं जा सकता। भले ही कालिदास भारतीय शेक्सपीयर हैं, तो भी।

यह सही है कि भारतीय विचारधारा की गहराई में जाने की व्यापकता उस समय यूरोपीय विद्वानों में नहीं थी। रवींद्रनाथ ठाकुर का कहना है कि मेरा दृढ़ विश्वास है कि धीवर से अंगूठी मिलने पर दुष्यंत के व्यर्थ परिताप में यूरोपीय कवि शकुंतला नाटक पर यवनिका पात करते। दुष्यंत शकुंतला का अंत में मिलना यूरोपीय नाट्य रीति में आवश्यक नहीं है। दरअसल पाश्चात्य साहित्य मानव मन की पड़ताल करता है। उसकी तह में घुसकर उसका विश्लेषण करता है। साथ ही भारतीय जीवन का उत्सव मनाता है। उसका अनुष्ठान करता है। यहां मानवीय धारणा का गौरवान्वित रूप अंकित है तो पाश्चात्य नाटकों में मानव की गौरव गाथा है। शकुंतला में 'शाप' अभिप्राय एक ओर रूपक है और दूसरी ओर शाप कथा को अंत की ओर, मंगल की ओर ले जाता है। यह उद्घाटन (anagnorisis) का काम करता है। मगर यूनानी नाटकों में जैसे सोफाक्लीज के 'किंग ओडीपस' में शाप क्रमशः मनुष्य की त्रासद नियति का उद्घाटन करता है, जिससे मुक्ति नहीं। यूनानी नाटक नैतिकता को आधार रूप में अवश्य ग्रहण करता है मगर चोट मानवीय दुर्बलता के कारण नैतिकता पर पड़ती है और पाप का संचार होता है यद्यपि यह सब कुछ नियति परियोजित होता है। ओडीपस को तो यह पता ही नहीं था कि जिससे उसका विवाह हो रहा है वह उसकी मां है। नियतिबद्ध व्यभिचार के कारण ओडीपस शापबद्ध होता है और एक दिन जब वह इस शाप के कारण का आविष्कार करता है तो वह आविष्कार शाप के सम्मुख मनुष्य की नियति के बौनेपन को ही प्रकट कर देता है। अंततः यह त्रासदी मनुष्य के प्रति विस्मययुक्त श्रद्धाबोध पैदा करती है।

हम मनुष्य की महिमा की उपलब्धि से उद्दीप्त होते हैं। दुःख की चुनौती को शक्ति के साथ स्वीकार करने की क्षमता में मनुष्य की अपराजेयता प्रतिबिंबित होती है। इसीलिए अभिज्ञान होने पर जोकस्ता भागी हुई आती है अपने पति/पुत्र के पास और फिर कहती है, आदमी और कितना डरेगा! वह भाग्य के हाथों एक पुतला है इसलिए जितने दिन वह जिंदा है किसी की मर्जी की वह परवाह नहीं करेगी। यही मानव का गौरव है। कालिदास ने भी दुःख को देखा है—राडुरिव को नगर आग से घिरा हुआ घर (हुतवह पटीतं गृहमेव) लगता है। शकुंतला के शब्दों में, 'हिअअ संपंद दे आसङ्का', अब तेरी आशंका सत्य हुई। प्रेम की अवमानना की करुण गाथा व्यक्त हुई है। शकुंतला को क्रोध से दुष्यंत को 'अणज्ज' अनार्य कहते सुना है। रानी हंसपदिका के गीत में राजा की लंपटता का संकेत मिलता है। पंचम अंक में हृदयविदारक दुःख का दृश्य देखा है। परंतु यह दुःख कालिदास के लिए जीवन का एक अंग है। इसीलिए कालिदास का बिंब है—'शिशिरवसंतो'—पत्ते का झड़ना और अंकुर का फूटना—इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। सफेद और काले के मिलन से यानी सुख और दुख के मिलन से भूरा रंग पैदा होता है—जीवन के प्रति एक गहरी विषादमयी दृष्टि पैदा होती है मगर कालिदास दुःख और सुख को तप की दिव्यता से रंग कर प्रकट करते हैं। दुःख के माध्यम से दुःखातीत आनंद की ओर प्रयाण करते हैं। यहां

द्वंद्व है मगर कर्त्तव्य और भावना का द्वंद्व है। शकुंतला के लिए अतिथि स्वागत कर्त्तव्य है, राजा के लिए विघ्नों का अपसरण कर्तव्य है। मगर इन दोनों की प्रेम-भावना में व्यक्तिगत उन्मादना है। इस द्वंद्व की परिणति कितनी शोचनीय हो सकती है। हंसपदिका का गीत उसका प्रमाण है। लेकिन अंत में यहां, जहां मानव विचार धारणा का दार्शनिक प्रसार है वहां विदेश में मानव अस्मिता की पहचान है।

आधुनिकता का सूत्रपात करनेवाले इब्सन ने सन् 1870 और 1880 के बीच 'डॉल्स हांउस' की रचना की। उसकी नायिका नोरा ने भी प्रेम विवाह किया था—आठ वर्षों के बाद उसे एक दिन एहसास हुआ कि उसका पति उससे प्यार नहीं करता—उसे गुड़िया समझकर उससे खेलता मात्र है। दरअसल यह संसार मनुष्यों का नहीं, गुड़ियों का है इसीलिए संसार के लोग सुखी नहीं रह पाते। इस चिंतन के परिणामस्वरूप आठ वर्षों के बाद एक दिन नोरा अपने घर का दरवाजा खोल निकल जाती है, उस हृदय की तलाश में जिसे आज हम खो चुके हैं। शकुंतला को छह वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़ी थी—अपने यौवन के मूल्यवान छह वर्ष, परंतु इसके लिए उसके मन में कोई दुःख नहीं था, उलाहना नहीं था। भरत ने जब अपनी मां से प्रश्न पूछा, "मां, यह कौन है जो मुझे पुत्र कह रहा है" तो शकुंतला ने उत्तर दिया, "बेटे अपने भाग्य से पूछो।" कहने का तात्पर्य है, यदि भाग्य प्रसन्न होगा तभी उत्तर मिलेगा। यह कहकर वह राजा की प्रसन्नता की प्रतीक्षा करने लगी। जैसे ही उसे पता लगा कि दुष्यंत ने उसे स्वीकार कर लिया है तभी निरभिमान नारी ने विगलित चित्त से दुष्यंत के चरणों में पुष्पांजलि अर्पित की, 'जेदु जेदु अज्जउतो,' आर्य पुत्र की जय हो। इसीलिए कहना पड़ता है कि पाश्चात्य नाटकों में 'एक्सप्लोरेशन' है तो यहां 'सेलीब्रेशन' है। मगर यह नाटक भारत में ही खेला जा सकता है जोन्स की यह उक्ति सही नहीं है। प्राच्यविद् कीथ ने कहा था कि शकुंतला यथार्थ नाटक की परंपरा के विरुद्ध है। वास्तव में जोन्स और कीथ ऐसी बातें विक्टोरियन युग के 'नेचरेलिज्म' के प्रभाव स्वरूप कह रहे थे बाद में बीसवीं शती में जर्मन नाटककार ब्रेश्ट ने नाट्यधर्मिता के प्रयोग को महत्त्व देते हुए भारतीय नाट्य परंपरा को स्वीकृति दी और तथ्यों के पीछे छिपे हुए सत्य को उजागर करनेवाले 'शकुंतला' जैसे नाटकों की सार्थकता को स्वीकृति मिली।

अठारहवीं शती में यूरोप में 'एज ऑफ एनलाइटमेंट' या जागरण-युग के फलस्वरूप अ-यूरोपीय परंपरा के प्रति आकर्षण दिखाई दिया था। समसामयिक ईसाई धर्म की आलोचना शुरू हुई थी और इसके फलस्वरूप उससे प्राचीन धार्मिक संचेतना की खोज शुरू हुई। भारत, हिंदू धर्म और भारतीय साहित्य की ओर ध्यान गया। यह खोज क्रमशः रोमानी काया धारण करती गई। 'एज ऑफ एनलाइटमेंट' की तर्कबुद्धि तथा विकास का बिंब धूमिल होने लगा। सन् 1789 में ही घटित फ्रांसीसी क्रांति से उत्पन्न बुद्धिवाद और पदार्थवाद का विरोध होने लगा। फ्रांसीसी क्रांति ने मगर आवेग और अनुभूति को बढ़ावा दिया था। आश्चर्यानुभूति (एसेंस ऑफ वंडर) का प्रसार हुआ। एकता और संपूर्णता की अभिज्ञा को महत्त्व दिया

गया। मानव इतिहास को जैवीय विकास के रूप में स्वीकार किया गया। सभ्यता के वृक्ष की जड़ें भारत में ढूंढ़ी जाने लगीं, यूनान में उसका तना है और शाखा-प्रशाखाएं सारे विश्व भर में फैली हुई हैं—यह स्वीकार किया जाने लगा। विद्वानों को भारत में सभ्यता का प्रारंभिक सरल रूप दिखाई देने लगा। जर्मन विद्वान जे. जी. हर्डर (1744-1803) ने भारतीयों को 'आदि युग की सभ्य संतान' कहा। इन्हीं सब कारणों से जार्ज फॅर्स्टर (1754-1794) ने जब जोन्स के अनुवाद से जर्मन में 'शकुंतला' का अनुवाद किया तो विद्वानों में तहलका मच गया। यह अनुवाद 1791 में प्रकाशित हुआ। इसके दूसरे संस्करण (1803) में हर्डर ने भूमिका लिखी। एक कविता से शकुंतला का स्तुतिगान किया—

> जहां शकुंतला अपने देशनिकाले बालक के संग रहती,
> जहां दुष्यंत फिर नये रूप में प्राप्त करता उसे देवताओं के पास से
> ओ पवित्र देश तेरी विजय हो,
> और तुम हो नेता भाषाओं के,
> मेरे हृदय की वाणी ले चलो मुझे
> दिव्य देश के बीच से उस धाम में,
> जहां रहती शकुंतला।।

हर्डर ने कहा, शकुंतला भारत की साहित्यिक चारण भूमि में विचरण करनेवाली सबसे सुंदर स्त्री है। दो हजार वर्षों में एक बार ऐसा कोई ग्रंथ प्रकाशित होता है। जर्मनी में शकुंतला आदर्श भारतीय स्त्री के रूप में प्रकट हुई। सशक्त चरित्र-चित्रण, अनुभूति की पवित्रता, नारी सौकुमार्य, प्यार करनेवाली एक नारी की लगन और आस्था के फलस्वरूप 'शकुंतला' नाटक का जर्मनी में व्यापक प्रभाव पड़ा। एक युग का नाम 'शकुंतला युग' पड़ गया। हालांकि क्लासिकी दृष्टि वाले जर्मनी में हर्डर, श्लीगल वगैरह 'सोफिस्टिकेशन ऑफ आर्ट' का विरोध कर रहे थे और रोमानी भावधारा को अपनाने में जुटे थे। ऐसे समय यह अनुवाद उनके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण और केंद्रीय बन गया। इस नाटक से रोमांटिक अनुभूति का प्रसार हुआ। प्रकृति की ओर लोगों का ध्यान गया। फॉर्स्टर ने पहले संस्करण की भूमिका में लिखा—इस नाटक में पांच या सांत अंक का होना बड़ी बात नहीं। बड़ी बात है कि गंगा के किनारे रहनेवाले सांवले चमड़े वाले लोगों ने मानव-मन की सर्वाधिक कोमल अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। विल्हेम हुमबोल्ट ने कहा—यूनानी साहित्य में कहीं भी नारीत्व का इतना सुंदर निदर्शन तथा सुंदर प्रेम नहीं दिखाई देगा। शकुंतला के लिए ही 'शकुंतला' के प्रति कदाचित् लोगों का आकर्षण बढ़ने लगा।

सन् 1833 में हिरजल ने सीधे संस्कृत से इसका अनुवाद किया। सन् 1834 में सकर्ट ने और शीलर ने सन् 1838 में। बोयेथलिंक ने सन् 1842 में। एरनस्ट मेइनर ने सन् 1852 में, शोर्डर ने सन् 1903 में, लॉकनर ने सन् 1924 में, कार्नफेल्ड ने सन् 1925 में, लॉश ने सन् 1960 में। फॅर्स्टर के जर्मन अनुवाद के आधार पर ब्रुगियर ने सन् 1803

में और फिर इस अनुवाद के आधार पर लूगि डोरिया ने इतालवी में इसका अनुवाद किया। फिर तो लगभग सभी यूरोपीय भाषाओं में इसका अनुवाद प्रकाशित होने लगा। इसकी प्रसिद्धि का सबसे बड़ा प्रमाण है कि बीसियों अनुवादों के रहते हुए आज भी नये-नये अनुवाद प्रकाशित होते रहते हैं। पिछले वर्ष पेंगुइन ने चंद्रा राजन का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। ऐसी बात नहीं कि यूरोप में इसकी सिर्फ प्रशंसा ही हुई। हिलब्रैंड्ट ने पहले महायुद्ध के बाद एक विनिबंध में शकुंतला की आलोचना करते हुए कहा था कि इसमें नाटकीय गति का अभाव है और आंतरिक संघर्ष भी नहीं है। जर्मनी के जगत प्रसिद्ध कवि गोयटे को यह अनुवाद सन् 1798 में भेजा गया था। एक महान यूरोपीय कवि के द्वारा इसकी पहली बार प्रशंसा हुई। उनका कहना था :

> कोई यदि तरुण वर्ष का फूल और परिणत वर्ष का फल,
> कोई यदि मर्त्य और स्वर्ग को इकट्ठा देखना चाहे
> तो 'शकुंतला' में उसे यह दिखाई देगा।

रवींद्रनाथ ठाकुर को इसमें शकुंतला का सही विश्लेषण दिखाई पड़ा। फूल और फल तथा मर्त्य और स्वर्ग को लेकर ही जीवन की संपूर्णता है। फूल यदि कामोन्मादन है तो फल उसका मंगलमय रूप है। मर्त्य यदि जीवन है, तो स्वर्ग भोगातीत तप। रवींद्रनाथ के अनुसार इस नाटक में एक ओर गृहधर्म का कल्याण बंधन है तो दूसरी ओर निर्लिप्त आत्मा का बंधनमोचन है। 'शकुंतला' भोग और भोगातीत का समन्वय है, सरल और नागर का मिलन है। स्वभाव और नियम की अभिव्यक्ति है। नदी और समुद्र का संगम है। अबंधन और बंधन की संगम लीला (अप्सरा कन्या) और धर्म (ऋषि कण्व) का समन्वय है।

दरअसल भारतीय नाट्य परंपरा में समय के दो स्तर हैं। एक ऐतिहासिक काल, रैखिक गतिवाली द्वंद्वात्मकता से युक्त काल और दूसरा महाकाल जिसका चक्राकार लय है। नाटक एक समय से, भोग से दूसरे समय तक, भोगातीत की यात्रा है। 'शकुंतला' के पहले अंक में भोग में लिप्त दुष्यंत का वर्णन है जिसका आश्रम में प्रवेश करते हुए दाहिनी भुजा फड़क रही है, आश्रम में मेरी कौन सी आशा पूरी होगी (शांतमिदमाश्रस्य स्फूर्ति बाहुः कृतः फलमिहास्य)। सातवें अंक तक पहुंचते-पहुंचते इसी दुष्यंत को भोग मुक्त पाते हैं। मारीच के आश्रम में प्रवेश करते हुए फिर उसकी भुजा फड़क उठती है। तब वह कहता है अब तो मेरी कोई इच्छा ही नहीं फिर भी मेरी भुजा फड़क रही है। (मनोरथाम नाशंसे किं बाहो स्पंद से वृथा)। नाटक देखनेवाले दर्शकों में भी इसी भाव का संचार कर दिया जाता है। कल्पना की जाय कि महाकाल के मंदिर में आरती की समाप्ति पर नाटक शुरू हुआ था। मध्यरात्रि में नाटक खेलना अनुचित माना जाता था। मगर नाटक समाप्त होते-होते रात्रि का दूसरा प्रहर जरूर बीत गया होगा। दर्शकों के कानों में 'शंकुतला' के वाष्प कंठ से निकली हुई आवाज 'आर्यपुत्र की जय' अभी भी गूंज रही है। दर्शकों ने 'शकुंतला' के नवयौवन की सरल और निष्कलंक काममूर्ति देखी है, फिर एक वेणीधरा विरहव्रत चारिणी रूप भी

देखा है। इस तरह वह लौकिक से दिव्यता की यात्रा की अनुभूति कर पाया है। एक ओर लौकिक जीवन का आयाम सामाजिक का आयाम—सावधिकाल का वृत्त और दूसरी ओर भरत वाक्य की अंतिम पंक्ति पुनर्भव परिणत शान्तिरात्म भूः—देवताओं के निरवधि महाकाल का महावृक्ष। 'शकुंतला' में इन दोनों वृत्तों का सामंजस्य होता है—और संपन्न होती है—लौकिकता से अलौकिकता की यात्रा। □

प्रो. इंद्रनाथ चौधुरी : हिंदी के प्रख्यात विद्वान्। आलोचक, समीक्षाकार। बहुभाषाविद्। हिंदी, संस्कृत, बांग्ला, अंग्रेजी पर समान अधिकार। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र का गहन अध्ययन। साहित्यिक प्रतिनिधि के रूप में अनेक देशों की यात्राएं।
संप्रति : सचिव, साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, नयी दिल्ली।

पोर्ट ऑफ स्पेन

त्रिनीदाद में अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन

बच्चू प्रसाद सिंह

यह यात्रा मेरे लिए विशेष महत्व की थी। यह एक आकर्षक यात्रा थी। चूंकि तीनों विश्व हिंदी सम्मेलन के साथ मैं बहुत गहरे जुड़ा रहा और हिंदी तथा हिंदीतर क्षेत्रों के लोग ऐसा मानते रहे हैं कि इन तीनों विश्व हिंदी सम्मेलनों का संयोजन जैसे मैंने ही किया। मुझे वर्ष 1983 में संपन्न तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन की बात याद आती है जब मैं इसकी तैयारी के सिलसिले में सूरीनाम से दिल्ली आया था। मेरा मंतव्य है कि जब-जब इस तरह के सम्मेलन हुए मैं अपने मित्रों और सहकर्मियों के साथ पूर्ण रूप से जुड़ गया और अभी पोर्ट ऑफ स्पेन में जो अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन संपन्न हुआ उसे आप सूक्ष्म अर्थ में विश्व हिंदी सम्मेलन की तरह का एक सम्मेलन मान सकते हैं। किंतु इस सम्मेलन का एक विशेष उद्देश्य था। मैं 1975 में पहली बार त्रिनीदाद गया था और यह देखा था कि इस देश से हिंदी मिटती जा रही है और लगा था कि आने वाली पीढ़ी के लिये यह इतिहास बनकर या स्मृति बनकर रह जाएगी। 17 वर्षों बाद अभी 16 से 20 अप्रैल तक यह जो सम्मेलन हुआ उसका मुद्दा यही था कि हिंदी जिसे हम एक अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देख रहे हैं वह नवजागरण और नए उभरते संबंधों को एक नया आयाम देती है।

मुख्य मुद्दा यह था कि त्रिनीदाद में हिंदी को किस प्रकार पुनर्जीवित किया जाए क्योंकि यह चिंताजनक विषय है कि हिंदी और भोजपुरी जो आज से तीन-चार दशक पहले उस देश में बेखटके बोली और समझी जाती थी वह कैसे विलुप्त हो गई? विशेषकर आज वहां की जो नयी पीढ़ी है उसके मानस में यह प्रश्न एक कसक के समान उठता रहता है कि हम अपने पुरखों की अनमोल धरोहर, एक बहुमूल्य वस्तु के साथ जुड़ नहीं पा रहे हैं—वह 'धरोहर' वहीं गोपनीय होती जा रही है। त्रिनीदाद में रहने वाली निवास करने वाली नयी पीढ़ी ने इस सम्मेलन का आयोजन किया था और इसमें लगभग 18 देशों से 20 प्राध्यापक, साहित्यकार, विद्वान पधारे थे। भारत से भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् ने मुझे भेजा था। मेरे साथ सर्वश्री शंकरदयाल सिंह, यशपाल जैन, राजेंद्र अवस्थी और माजदा असद ने इसमें हिस्सा लिया।

इस शिष्टमंडल के सभी लोग अपने-अपने क्षेत्रों में सुविख्यात रहे हैं। हर किसी ने सम्मेलन को सफल बनाने में अपना योगदान दिया। भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति (और अब राष्ट्रपति) डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने अपना शुभकामना संदेश मुझे दिया था जिसे वहां मैंने पढ़कर सुनाया। हमारे प्रधान मंत्री श्री पी.वी. नरसिंह राव का प्रेरणादायक संदेश हमारे

राजदूत प्रो. लक्ष्मणा ने पढ़कर सुनाया। इस सम्मेलन में भी मुझे हिंदी सेवी कुछ सुपरिचित विद्वान मित्र और अन्य देशों के प्रतिनिधि मिले। उनसे मिलकर बहुत अच्छा लगा और इसीलिए यह अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन मुझे लघु विश्व हिंदी सम्मेलन की तरह का लगा। हिंदी के प्रचार-प्रसार के प्रति समर्पित अनेक व्यक्तियों के अलावा कुछ महत्वपूर्ण हस्ताक्षरों का उल्लेख जरूरी लगता है। जैसे---जर्मनी से प्रो. लोठारलुत्से, हंगरी से इवा इरादी, पोलैंड से प्रो. ब्रिस्की, इटली से मरियोला अफरीदी, अमरीका से सुरेंद्र गंभीर, यू.के. से प्रो. सत्येंद्र श्रीवास्तव, सूरीनाम से डॉ. ज्ञान अधीन और इनके साथ-साथ त्रिनीदाद के विश्वविद्यालय में पढ़ने-पढ़ाने वाले अनेक विशिष्ट विद्वानों ने हिस्सा लिया। उन सब ने सम्मेलन में अपनी-अपनी शिरकत की—हिंदी के प्रचार-प्रसार से जुड़ी समस्याओं पर चर्चा की, उनके निराकरण पर चर्चा हुई और विश्वास यह व्यक्त किया गया कि इस प्रकार के प्रयास को 'गलत अर्थ' में 'अन्यथा' न लिया जाए बल्कि राष्ट्रीय एकता, सामाजिक समरसता, प्रेम-स्नेह एवं सद्भाव का वातावरण पूरे देश में बना रहे और उसे परिपुष्ट बनाने में हिंदी अपनी सार्थक भूमिका निभाए।

सम्मेलन का उद्घाटन राष्ट्रपति श्री हुसैन अली ने किया और इस अवसर पर एक रात्रि भोज का आयोजन भी किया गया। दूसरे रोज प्रथम सत्र में जो उद्घाटन सत्र था, त्रिनीदाद के प्रधानमंत्री श्री पेट्रिक मेनिंग ने अपने भाषण में अतिथियों का स्वागत करते हुए सम्मेलन के आयोजकों विशेष रूप से हिंदी निधि के अध्यक्ष श्री चंद्रिका सीताराम को इस बात के लिए बधाई दी कि छह वर्ष के अनंतर ही यह संस्था भाषा-संस्कृति के क्षेत्र में इतने महत्वपूर्ण कार्य संपन्न करती आ रही है। और उन सबका ही यह अपेक्षित परिणाम है कि हम अपने देश में आज एक विराट अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन का आयोजन कर रहे हैं। यह सम्मेलन पश्चिमी गोलार्द्ध में पहली बार आयोजित हुआ है और इसका उद्घाटन गुडफ्राइडे के दिन हम कर रहे हैं, यह इसके उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक है।

हिंदी निधि ने भारतीय संस्कृति की रक्षा, उसके प्रचार-प्रसार के तहत अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए हैं और प्रधानमंत्री मेनिंग ने इस संस्था द्वारा आयोजित 'फूड फेस्टिवल' की विशेष सराहना की। उन्होंने अपने भाषण में यह कहा कि भारत सरकार की छात्रवृत्ति पर जो लोग हिंदी सीखने भारत जाते हैं उनसे भी हिंदी निधि के कार्यकलापों में बड़ी सहायता मिली है। त्रिनीदाद की सरकार उस देश में निवास करने वाले सभी जातीय समूह की सांस्कृतिक थाती और उनके ऐतिहासिक विरासत को देश के विकास व उसकी प्राप्ति के लिये आवश्यक मानती है—हिंदी का विकास त्रिनीदाद में एक विशेष अर्थ रखता है और उसके प्रचार-प्रसार के लिए सभी अनिवार्य प्रयास जरूर किए जाने चाहिए जिससे कि हम रामायण, महाभारत, गीता और कालिदास की काव्य कृतियों से वंचित न रह जाएं। हमारे पुरखों की भाषा हमारे लिए विशिष्ट महत्व रखती है इसीलिए हमने अपने घोषणापत्र (मेनिफेस्टो) में पिछले वर्ष कहा था कि जहां कहीं भी मांग हो—हम स्कूलों में इसकी पढ़ाई की व्यवस्था करें। भाषा का सीखना हमारे लिए अधिक उपयोगी है ताकि त्रिनीदाद

जैसे जो बहुजातीय समाज देश हैं वे एक-दूसरे के साथ भाषा को माध्यम बनाकर आपसी प्रेम सौहार्द्र और सद्भाव-सूत्र को सुदृढ़ बना सकते हैं। प्रधानमंत्री ने कहा कि हिंदी-भोजपुरी संसार की बड़ी भाषाएं हैं। और भारत से आने वाले हिंदी भाषी समाज के पुरखों ने इसे इस देश में लगभग डेढ़ सौ साल पूर्व पहुंचाया था। उन दिनों की याद करें जब हिंदी उनके लिए एकमात्र संपर्क-सूत्र का माध्यम थी। अपने परिवार के इन आत्मीय लोगों के साथ जिन्हें वे हजारों मील दूर अपने देश में छोड़ आए थे। इस सम्मेलन में जो विचारणीय विषय रखे गये उनके तहत हिंदी को एक संपर्क सूत्र के रूप में देखा गया है। आज सांस्कृतिक धरातल पर जो नवजागरण की लहर चल पड़ी है उस संदर्भ में हिंदी की एक विशिष्ट भूमिका है।

आज हमारे देश में अफ्रीकी मुल्क के अनेक ऐसे लोग हैं जो रामायण, महाभारत में रूचि ले रहे हैं और मुझे खुशी है कि अफ्रीकी समूह द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में भारतीय मुल्क के अनेक लोग बड़े उत्साह के साथ हिस्सा लेते हैं। मुझे आशा है कि सुदूर देशों से आए विद्वान इन सब पक्षों पर गहराई से विचार विमर्श करेंगे और उनके विचारों के परिणामस्वरूप जो दिशा-निर्देश प्राप्त होगा उनके दूरगामी प्रभाव पड़ेंगे।

प्रधानमंत्री श्री मेनिंग ने अंत में हिंदी के दो-चार शब्दों द्वारा सम्मेलन का उद्घाटन किया।

सम्मेलन की भाषा

किंतु उस देश में सम्मेलन के आयोजकों में दो चार लोग ही ऐसे थे जो सुगमतापूर्वक या धाराप्रवाह हिंदी भाषा में अपने विचार अभिव्यक्त कर पाते थे। इनमें सम्मेलन के संयोजक श्री रविजी महाराज का नाम विशेष रूप से याद आ रहा है। उद्घाटन से पूर्व यानी 16 अप्रैल के पूर्वाह्न में जो बैठक हुई उसमें त्रिनीदाद की तरफ से वही एकमात्र व्यक्ति थे जो अपने विचार हिंदी में प्रकट कर पाने में समर्थ थे और उन्होंने प्रतिनिधियों से साफ-साफ कहा कि इस सम्मेलन में आप अपने विचार अंग्रेजी में ही प्रकट करें—कुछ ने इस प्रस्ताव पर आपत्ति की और कुछ को यह अटपटा सा लगा कि अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन के सभी कार्यकलाप अंग्रेजी में संपन्न हों?

पर भारतीय प्रतिनिधि मंडल की ओर से मेरा यह सुझाव आयोजकों को मान्य लगा कि सभी विद्वान अपने विचार संक्षेप में हिंदी में ही रखें और विस्तार से अपने विचार अंग्रेजी में रखें ताकि आतिथेय देश के लोगों तक बात ठीक परिप्रेक्ष्य में पहुंच पाए। अपने प्रतिनिधिमंडल के सदस्यों को भी यह बात मैंने कही थी कि हिंदी के सम्मेलन को इस अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर करना ही इस बात का प्रमाण है कि हम सब हिंदी के प्रति निष्ठा रखते हैं किंतु अब उनकी यह विवशता है कि लगभग चालीस वर्षों के अनंतर यहां हिंदी की कड़ी टूट-सी गयी है और उसे जोड़ने के लिए अगर अंग्रेजी का सहयोग लिया जाए तो इस प्रयास में बुराई क्या है? संयोज़क ने स्वयं ही कहा था कि यदि आप सब हिंदी पर ज्यादा जोर देंगे तब पांच प्रतिशत लोगों तक आपकी बात पहुंच पाएगी इसीलिए हमने यह

सुझाव दिया कि कुछ हिंदी में उसके बाद अंग्रेजी में विस्तार से विचार हो। और परिणाम अच्छा रहा। अन्य देशों से आए विद्वानों ने हमारे शिष्टमंडल की तरह कुछ बातें हिंदी में कही और विस्तार से अंग्रेजी में चर्चा की। भारतीय प्रतिनिधिमंडल के तीन सदस्यों ने एक-एक सत्र की अध्यक्षता की। श्री शंकर दयाल सिंह (सांसद-साहित्यकार) ने पहले सत्र की अध्यक्षता की, दूसरा सत्र मेरे जिम्मे था और तीसरे सत्र की अध्यक्षता श्री राजेंद्र अवस्थी (संपादक 'कादंबिनी') ने की। श्री यशपाल जैन और माजदा असद ने भी अपने अपने पेपर पढ़े थे।

यह सम्मेलन कहने को तो अंतर्राष्ट्रीय था पर उसके मूल में विचारणीय विषय उस देश या क्षेत्र विशेष की समस्याओं पर ही केंद्रित थे और पूरे सम्मेलन में यह बात बार-बार चर्चा में आती थी कि त्रिनीदाद में हिंदी का पौधा सूख रहा है उसे पल्लवित किया जाना चाहिए। उसे सूखने से बचाना चाहिए और इस संदर्भ में प्रसंगवश मुझे अपने उन सूरीनाम निवासी मित्र की बात याद आती है जिसे वे एकांत में कहते थे—"देखिए किस तरह हमने सूरीनाम में हिंदी को कायम रखा। आज हमारे यहां घर-घर में, खेत, खलिहान, सड़क, चौराहे से लेकर संसद तक इस भाषा की गूंज बरकरार है और त्रिनीदाद के संबंध में नयी पीढ़ी आमादा है कि किन प्रयत्नों से इस सूखते पौधे को पुनर्जीवित करें।"

सम्मेलन में हिंदी की प्रशंसा सभी विद्वानों ने की। यह भी बार-बार दुहराया गया कि हिंदी संसार की भाषाओं के बीच तीसरे क्रम पर आती है। मैंने भी जोर देकर कहा कि भारत के बाहर सैकड़ों विश्वविद्यालयों में इसका पठन-पाठन चल रहा है। हिंदी के विभिन्न पक्षों पर शोध कार्य हो रहे हैं। अंत में एक प्रस्ताव पारित किया गया कि राष्ट्र संघ में हिंदी को मान्यता मिलनी चाहिए। मुझे अमरीका विश्वविद्यालय में अध्यापन करने वाले विद्वान प्राध्यापक श्री सुरेंद्र गंभीर का पेपर बड़ा ही विचारोत्तेजक लगा जब उन्होंने कहा कि त्रिनीदाद और गयाना में रहने वाले भारत वंशियों ने अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता को बनाए रखा है अर्थात भोजन, परिवार के संस्कार, संबंधों में बसी ऊष्मा, शादी विवाह, धर्म तथा अनेक पारंपरिक रीति रिवाज सुरक्षित हैं। किंतु उन्होंने हिंदी को संभवतः इसलिए भुला दिया क्योंकि एक नूतन समाज के साथ उन्हें संपर्क बनाना था या हो सकता है कि वे यानी भारत से आए लोग अपने समाज में अपनी भाषा का प्रयोग करते और दूसरे लोगों के साथ संपर्क के लिए दुभाषिए को अख्तियार करते, पर त्रिनीदाद या गयाना के भारतीयों के लिए क्रियोल और अंग्रेजी के पक्ष में हिंदी को भुला दिया गया। उनके पूर्वज हिंदुस्तानी भाषा लाए थे यानी भोजपुरी, किंतु उन्हें ऐसा लगता था मानो खड़ी बोली हिंदी उनकी भोजपुरी से भिन्न है इसलिए भोजपुरी तो आज भी उन देशों में बोली-समझी जाती है। लेकिन इसी प्रसंग में मुझे त्रिनीदाद के विदेशमंत्री श्री राल्फ महाराज का भाषण याद आता है जब उन्होंने कहा था कि बचपन में जब अपनी नानी के साथ गांव में रहता था तब भोजपुरी बोलता था पर पढ़ाई के लिए बाद में जब बड़े शहर में आया तो वह अवसर खो गया। उन्होंने एक कहानी सुनाई थी कि "नानी, अब तोर बकरी हम ना पकड़ीं।" उनके इस कथन पर हंसी तो आई

पर इसके पीछे एक पूरी पीढ़ी का दर्द था। क्योंकि विदेशमंत्री स्वयं एक चिंतक हैं और उन्हें इस बात की बड़ी चिंता है कि हमने अपनी भाषा को भुलाकर अपने देश और जाति के साथ न्याय नहीं किया।

अपने पेपर में श्री गंभीर ने बताया कि आज त्रिनीदाद में जितने भी साठ-सत्तर के आयु-वर्ग के लोग हैं वे तो निश्चय ही कुछ अंशों में हिंदी-भोजपुरी समझ लेते हैं पर नई पीढ़ी में इसका तो एकदम अभाव है फिर भी, यह मानना होगा कि इनके पास हिंदी का ज्ञान नहीं है। हां, हिंदी-भोजपुरी की प्रतिच्छवि इनके मस्तिष्क में पूरी तरह प्रस्तुत है। यही कारण है कि भारतीय मुल्क के विद्यार्थी जब हिंदी पढ़ने हमारी कक्षाओं में आते हैं तब दूसरे देशों के छात्रों की अपेक्षा पांच गुना अधिक तीव्र गति से हिंदी सीख लेते हैं जो इस बात का प्रमाण है कि जहां भी विश्व में भारतवंशी हैं वे अपनी सांस्कृतिक विरासत के कारण हिंदी से जुड़े हुए हैं। संसार की कई भाषाओं के मृतप्राय होकर पुनर्जीवित होने की घटना का जिक्र करते हुए प्रसंगवश उन्होंने इजरायल में हेब्रू के पुनरूद्धार की चर्चा की और कहा कि हेब्रू बोलने वालों की संख्या कभी शून्य तक पहुंच गई थी किंतु एक आंदोलन चलाया बेन येहूदा ने। चालीस वर्ष तक उन्होंने अपनी जाति के भीतर एक आंदोलन परक अभियान चलाया और तमाम विरोधों के बावजूद वह विद्वान अपने प्रयासों में सफल रहा। इसी प्रसंग में उन्होंने आयरिश और संस्कृत के पुनरूद्धार की भी चर्चा की।

समापन-सत्र में मैंने इस बात पर जोर दिया कि आप लोग कम से कम प्रतिदिन घर-परिवार के सदस्यों के बीच कुछ पल के लिए ही सही, हिंदी के शब्दों का प्रयोग अवश्य करें। हिंदी निधि त्रिनीदाद के अध्यक्ष श्री चंद्रिका सीताराम से मैंने यह कहा कि हमारे देश की भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने अपने परिवार जनों के बीच एक प्रथा चला रखी थी कि नाश्ते की टेबुल पर यथासंभव हिंदी में ही बातचीत करें। यही श्रेष्ठ तरीका है स्वयं को भाषा से जोड़े रखने का—हिंदी की इस दिशा में एक सार्थक-सक्रिय भूमिका हो सकती है। इस भाषा के माध्यम से भावना, दर्शन, जीवन मूल्य सब कुछ संसार के कोने-कोने तक पहुंचे हैं और आज भी लोग वेद, उपनिषद, पुराण, महर्षि दयानंद, गांधी, नेहरू और हमारी आजादी की लड़ाई से जुड़े लब्ध प्रतिष्ठ नेताओं को संसार में याद करते हैं वह इसी के माध्यम से। कहीं रामायण, कहीं महाभारत, कहीं गीता—तो कहीं हमारी लोक कथाएं—हमारे लोकगीत जो मन को स्पर्श करते हैं तो कोई ऐसी विशेष बात अवश्य है हमारी इस पावन धरती की मिट्टी में कि हमारा साहित्य, हमारा चिंतन, दर्शन उसे आकृष्ट करता है। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'कलेजे से जो लग जाये उसी को तीर कहते हैं।' संसार के अनेक देशों में घूम-घूम कर मैंने स्वयं ही देखा है कि जो हमें बहुत जानते हैं और जो हमें बहुत नहीं जानते, उन सबके मन में कहीं न कहीं हमारे प्रति एक आदर-भाव अवश्य विद्यमान है। इसलिए यह हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाएं और भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार सतत करते रहें। इस दिशा में भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् तो निरंतर ही सचेष्ट रहती आयी है किंतु हमारे जितने प्रयास होते हैं वे कुछ

कम रह जाते हैं। फिर भी दूसरे देशों के साथ भाषाई और सांस्कृतिक संबंधों को हमें निरंतर बढ़ाते रहना चाहिए। चतुर्थ विश्व हिंदी सम्मेलन की चर्चा पिछले दो-तीन वर्षों से हो रही है। हमारे प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिंह राव जी के साथ कई बार अमरीका स्थित भारतीय विद्या भवन के प्रतिनिधि श्री पी. जयरमन और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष श्री मधुकर राव चौधरी ने मिलकर चर्चा की है।

प्रधानमंत्री स्वयं भी विशेष रूचि ले रहे हैं क्योंकि साहित्य-संस्कृति के साथ उनका विशेष अनुराग रहा है। इस बार की यात्रा में न्यूयार्क में मेरी मुलाकात डॉ. पी. जयरमन से हुई थी। उन्होंने अपने आग्रह को फिर से दुहराया है और उनका विश्वास है कि संभवतः अगले वर्ष के अप्रैल में चतुर्थ विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन न्यूयार्क में हो पाएगा। इस सिलसिले में मुझसे भी बात हुई और मैं भी इसके आयोजन के प्रति आशावान हूं। क्योंकि विश्व हिंदी सम्मेलन एक विराट् आयोजन है। इसमें भारत की भूमिका महत्वपूर्ण तो है ही, साथ ही जिस देश में इसका आयोजन होगा उसका भी दायित्व कहीं न कहीं बढ़ जाता है। इसके तहत भोजन परिवहन, आवास, आतिथ्य की सारी व्यवस्था करनी पड़ती है। किंतु यह प्रतीत होता है कि भारतीय विद्याभवन और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति दोनों मिलकर इसमें योगदान करेंगे तब यह आयोजन अवश्य होगा। अमरीका तो वैसे भी साधन संपन्न देश है। इसलिए कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। डॉ. जयरमन एक कर्त्तव्यनिष्ठ विद्वान हैं। उन्होंने नागपुर (प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन) तथा तथा मारीशस (द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन) दोनों में हिस्सा लिया है अतः प्रतीत होता है कि सम्मेलन अवश्य होगा।

सूरीनाम में त्रिनीदाद की अपेक्षा हिंदी बोलने-जानने समझने वालों की संख्या अधिक है बल्कि बहुत अधिक है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि सूरीनाम के सर्वमान्य नेता और वहां की संसद के अध्यक्ष श्री जगन्नाथ लक्ष्मणा स्वयं धाराप्रवाह हिंदी बोलते हैं। उनसे मिलने पर आपको लगेगा कि वास्तव में वे सूरीनाम की संस्कृति-भाषा-साहित्य, राजनीति के उन्नायक हैं। उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में सामाजिक समरसता को बनाए रखा है अतः उनका सम्मान सभी जातियों के लोग करते हैं।

इस बार की यात्रा ने मुझे यह अवसर दिया कि हम अपने बीते दिनों को, संघर्ष को याद करें जहां मैंने अपने सात वर्ष बिताए—इस बार भी वही प्यार, वही सद्भाव, गले मिलकर आपसी भाईचारे की अभिव्यक्ति मिली। सूरीनाम के लोग भारत की तरफ बड़े प्यार से देखते हैं। पहले दिन एक आयोजन हुआ सूर्य मंदिर में। वहीं पर शिष्टमंडल का स्वागत हुआ—परिचय का दायित्व मेरे जिम्मे था उसके बाद सभी सदस्यों ने अपने विचार सूरीनाम के नागरिकों तक पहुंचाए। उसी दिन संध्या के समय एक दूसरे मंदिर में कार्यक्रम हुआ फिर तीसरे दिन एक सांस्कृतिक कार्यक्रम माता गौरी मंदिर में रखा गया। एक शाम बड़ी अनुराग भरी थी—गुलाबी जाड़े सी गुनगुनी शाम जब हमारे सांस्कृतिक केंद्र के छात्रों, प्राध्यापकों ने नृत्य, गीत, संगीत से पूरे परिसर को भाव विभोर कर दिया। एक लोकगीत गायक ने अपने ढोल, हारमोनियम के साथ भोजपुरी लोकगीत के सुर में सभी को बांध

दिया। गीत के बोल थे—"मकइया हो तोहर गुन गवलो ना जाला।"

मेरी मुलाकातें वहां के राष्ट्रपति जी, संसद के अध्यक्ष, शिक्षामंत्री, उप राष्ट्रपति जी से हुईं। दोनों देशों के आपसी संबंधों पर भी चर्चा हुई। सूरीनाम में भारत के प्रति जो अटूट आस्था, निष्ठा, प्रेम और सद्भाव है वह इस आधार पर है कि हम वहां के लोगों को एक मित्र-भाव की तरह देखते हैं। □

बच्चू प्रसाद सिंह : हिंदी पत्रकारिता से आजीविका की शुरूआत। किताब 'कुछ दूर की : कुछ पास की' में संस्मरण लेख। वर्षों भारत सरकार के विदेश मंत्रालय में विशेषाधिकारी हिंदी के पद पर कार्य करते हुए अनेक देशों का भ्रमण। साहित्य, संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान। हिंदी के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका। सात वर्षों तक सूरीनाम में भारत के राजदूत रहे।

संपर्क : 83-सी हिमगिरि अपार्टमेंट्स, पाकेट-14, कालकाजी एक्सटेंशन, नयी दिल्ली

सृजन के साथ भारत से जुड़ा

प्रो. ब्रिस्की

आप अभी पिछले वर्ष ही पोलिश दूतावास में 'परामर्शदाता' के पद पर भारत आए हैं। इससे पूर्व वार्सा-विश्वविद्यालय (पोलैंड) के भारतीय-विभाग में विभागाध्यक्ष के पद पर रहे तथा वहां सन् 1966 से 1990 तक संस्कृत के अध्यापन कार्य में संलग्न रहे। आपका सम्यक् हिंदी ज्ञान हिंदी के प्रति आपका विशेष रूझान दिखाता है। आपसे मिलकर एक सहज धारणा बनती है कि आपके व्यक्तित्व में हिंदी-भाषा घुलमिल-सी गई है। आपके भाषिक हाव-भाव भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। सर्वप्रथम आप संस्कृत के विद्वान हैं। 'मनुस्मृति' पर आपका शोधलेख प्रकाशित हो चुका है। क्या आप हमारे पाठकों को बताएंगे कि आपकी हिंदी और संस्कृत के प्रति रूचि कैसे पैदा हुई? क्या इसके पीछे कोई प्रेरणा रही?

शुरू से ही मुझे विभिन्न विदेशी भाषाएं सीखने का शौक था। जब मैं वार्सा विश्व-विद्यालय में अध्ययन कर रहा था, उस समय मेरी इच्छा हुई कि मैं उस भाषा को सीखूं, जो हमारे यहां सबको नई लगे; और तभी मैंने 1955 में वार्सा विश्वविद्यालय के भारतीय विभाग में प्रवेश लिया एवं हिंदी तथा संस्कृत का अध्ययन प्रारंभ किया। जहां तक प्रेरणा का सवाल है, मैं कह चुका हूं कि 'कुछ नया कर दिखाने की इच्छा' ही मेरी प्रेरणा थी।

आप पहली बार भारत कब आए? क्या वह आपकी व्यक्तिगत यात्रा थी? इसके बाद आने-जाने का सिलसिला कैसे जारी रहा?

पहले-पहल मैं भारत 1961 में आया था। उस समय मुझे एक अमरीकी-पोल्स्की-संस्था 'पादेरेव्स्की' (Paderewski) की ओर से भारत आने के लिए छात्रवृत्ति मिली थी। यह छात्रवृत्ति शोधकार्य के लिए दी जाती है। मैंने पी-एच.डी. का शोध प्रबंध 'बनारस हिंदू विश्वविद्यालय' से लिखा। इस कार्य के लिए मैं यहां 1966 तक रहा। इसके बाद तो 'यू.जी.सी.' के विभिन्न कार्यक्रमों के अंतर्गत 'भारतीय रंगमंच' तथा 'नौटंकियों' पर शोधकार्य के लिए आता रहा।

जब आपको भारत आने के लिए शोध छात्रवृत्ति मिली, तब आपकी प्रथम प्रतिक्रिया क्या थी? क्या उस समय आपने सोच लिया था कि आप इसी दिशा में आगे बढ़ेंगे?

भारत आकर आप लोगों के बीच 'हिंदी' को अनुभव करना चाहता था, इसलिए उत्सुकता तो थी। बनारस जैसे धार्मिक स्थल पर मेरा भारत से प्रथम साक्षात्कार हुआ। मेरे लिए वहां

का विश्वविद्यालय, परिवेश सब कुछ नया था, फिर भी धीरे-धीरे मैं वहां खप ही गया। साथियों से बहुत सहयोग मिला। फिर तो वहां का प्रत्येक घाट, प्रत्येक गली, प्रत्येक मंदिर जैसे मेरे जीवन का अंग बन गया। ... आज भी जब कभी किसी कार्यक्रम या संगोष्ठी आदि में जाने के लिए बनारस से निमंत्रण मिलता है, तो मेरा हृदय एक अजीब रोमांच से भर जाता है। अपने पुराने साथियों से मिलने की उत्सुकता फिर से मुझे वहां अनायास खींच लेती है। मैं वहां जिस छात्रावास में रहा, जिन लोगों का संपर्क मिला, जिन विद्वानों की छत्र छाया में अपने हिंदी-ज्ञान को पुष्पित-पल्लवित किया—सब कुछ आज तक नहीं भूल पाया हूं। बनारस तो मेरी 'गुरूभूमि' है। इस 'गुरूभूमि' से शिक्षा ग्रहण करने के बाद कैसे न इसे आगे बढ़ाता। 'दक्षिणा' में कुछ तो देना था।

यानी भारत से आपका परिचय नया ही नहीं बल्कि आत्मीय भी है?

नया? मैं तो सोचता हूं कि बहुत पुराना है। मुझे तो लगता है कि मेरा इस भूमि से पूर्वजन्म का संबंध है। तभी तो किसी न किसी बहाने यह मुझे अपनी ओर खींच लेती है। इस जन्म में मेरी देह ही बदली है, आत्मा तो शायद भारतीय ही रह गई।

आज आप भारत को अपने से अभिन्न समझते हैं। पूर्वजन्म में आपका विश्वास प्रकट होता है। अब 'हिंदी' और 'हिंदुस्तान' आपके जीवन के अंग हैं, लेकिन क्या यह भाषा सीखने से पहले कभी सोचा था कि 'कुछ नया' सीखने का भाव मन में इस प्रकार का भाव जगा देगा कि वह 'नया' इतना 'पुराना' बनकर आपको भारत के इतने नजदीक ला देगा?

जी हाँ, पहले तो मैंने इसे एक नए अनुभव के रूप में ग्रहण किया था, लेकिन छह वर्ष बनारस में रहने के बाद मुझे लगा कि अपने संस्कृत ज्ञान को मुझे बनाए रखना है। इसका सबसे अच्छा उपाय यही था कि मैं इसका अध्यापन करूं। भारत से वापस जाकर भारतीय-विभाग में मैंने संस्कृत का अध्यापन प्रारंभ किया। साथ-साथ संस्कृत महाकाव्यों तथा नाटकों का पोलिश में अनुवाद-कार्य भी करता रहा। इस बहाने अपने को भारत से जोड़ता रहा और जोड़ता ही चला गया। वह 'नया करने का भाव' मेरे लिए आज पथ-प्रदर्शक बन गया।

आपने अभी बताया कि आपने अनुवाद-कार्य भी किए हैं। कुछ प्रमुख अनुवादों के बारे में बताएंगे?

मैंने 'मनुस्मृति' तथा 'कामसूत्र' का पोलिश भाषा में अनुवाद किया तथा भास के नाटकों का भी अनुवाद किया, जिनमें से कई प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अलावा कई छिटपुट अनुवाद भी किए हैं। जैसे : गंगा स्त्रोत, ईश्वरदत्त का 'धूर्त-वित्त संवाद', भगवद्गीता के कुछ अंश आदि।

आपने संस्कृत के प्राचीन साहित्य का अनुवाद किया तथा इस भाषा की आत्मा को भारत-प्रेमी पोलिश पाठकों तक पहुंचाया जो अपने आप में उल्लेखनीय है। क्या आपने हिंदी से पोलिश

में भी अनुवाद किए हैं?

जैसा कि मैंने पहले कहा, मूलरूप से संस्कृत मेरे अध्ययन-अध्यापन का क्षेत्र रहा है। परंतु यदा-कदा मैंने हिंदी से भी अनुवाद का काम किया है। जैसेः 'तोता-मैना', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कहानी 'बकरी', 'प्रेमचंद की 'गरीबों की हाय' आदि। मैंने इस क्षेत्र में कुछ शोध-लेख भी लिखे हैं। हाँ, इन दिनों आपके साथ पोलिश से हिंदी में अनुवाद कार्य करने की कुछ योजनाएं बनी हैं, जिनमें से 200 वर्ष प्राचीन पोल्स्की संविधान का हिंदी अनुवाद मई 91 में प्रकाशित हो चुका है। और मुझे उम्मीद है कि हम पोलिश राष्ट्रीय महाकाव्य 'श्री तादेउश' (Pan Tadeusz) का हिंदी अनुवाद शीघ्र ही पाठकों के समक्ष पेश करेंगे।

वार्सा (पोलैंड) में रहने के दौरान मुझे इस महाकाव्य का अनुवाद करने की प्रेरणा आपसे ही मिली थी। यह कार्य पूर्ण करना मेरा स्वप्न है। वार्सा के भारतीय विभाग में पहुंचकर कोई भी इस दिशा की ओर प्रेरित हो सकता है। भारतीय-विभाग में आपने भारतीय भाषाओं के साथ-साथ वहां एक भारतीय माहौल बनाने का जो प्रयास किया है, वह स्तुत्य है। जो भी उस विभाग में आता है उसकी पहली प्रतिक्रिया यही होती है कि कोई सुरूचिपूर्ण व्यक्तिगत इस परिकल्पना के पीछे है। यह आपकी व्यक्तिगत रूचि का परिचायक है या कोई अन्य कारण है?

मैं सोचता हूं कि भाषा अपने आप में तब तक पूर्ण नहीं होती जब तक उसकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक बारीकियों को न समझा जाए। हमारे पास वहां सीमित साधन थे, फिर भी हमारी पूरी कोशिश रही कि भारतीय-विभाग के दर्पण में भारत ही दिखाई दे। इसलिए वहां का एक कक्ष विभिन्न देवी-देवताओं की तस्वीरों से सज्जित है। दूसरा ऐतिहासिक स्थलों एवं तीर्थों से, तो तीसरा भारतीय नृत्य शैलियों से, और न जाने क्या-क्या! दूसरे, जब मैं भगवद्गीता की कक्षा लेता हूँ तब सभी विद्यार्थियों को आसन पर बिठवाता हूँ जिससे वे भगवद्गीता से अपना तादात्म्य स्थापित कर सकें। उनसे सस्वर पाठ करवाता हूं। इसमें व्यक्तिगत रूचि तो है ही, पर उपर्युक्त कारण अधिक अहम है।

पोलिश दूतावास में आकर आपने अब अपने कार्य-क्षेत्र में परिवर्तन किया है। यहाँ आप शैक्षणिक, तकनीकी एवं विज्ञान संबंधी विभाग के 'परामर्शदाता' हैं। यहां रहकर आपका प्रमुख योगदान क्या रहेगा?

सर्वप्रथम उद्देश्य तो यही है कि मैं दोनों देशों के बीच के वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक समझौते की गरिमा को पूरी तरह से निभाऊं और दोनों के बीच की दूरी को कम करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहूं। फिलहाल, यहां आते ही मैंने महसूस किया कि जब सांस्कृतिक समझौते के अंतर्गत पोलैंड से भारतीय छात्रवृत्ति पर विद्यार्थी भारत आते हैं तो क्यों न पोलिश भाषा और साहित्य के अध्ययन के इच्छुक भारतीय विद्यार्थी विशेष अध्ययन एवं शोध के लिए पोलैंड जाएं। मैंने यह प्रस्ताव बनाकर हाल ही में विचारार्थ प्रस्तुत किया है।

इसी के साथ मैं एक अत्यंत उल्लेखनीय प्रसंग आपके कथन के साथ पाठकों के लिए जोड़ना चाहती हूँ और वह यह कि 3 मई 1991 को पोलिश दूतावास ने अपने संविधान के दो सौ वर्ष पूरे करने के उपलक्ष्य में एक समारोह का आयोजन किया था, जिसमें आपने एक 'सांस्कृतिक संध्या' का हिंदी में संचालन किया था। यह विचार आपके मन में कैसे और क्यों आया?

जब मैं दूतावास में आया तो देखा कि अंग्रेजी या पोलिश भाषा का ही यहां इस्तेमाल किया जाता है। अंग्रेजी आप लोगों पर इतनी हावी है कि हम हिंदुस्तान में आकर हिंदी बोलना भी चाहें तो लोग हमसे अंग्रेजी में बात करते हैं। इस भ्रम को तोड़ने के लिए मैंने सोचा कि अपने दूतावास में हिंदी के माध्यम से कुछ कार्य करूं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि मेरे भारतीय भाई हिंदी भाषा के माध्यम से हमें जानें-समझें, न कि अंग्रेजी के। यही कारण है कि हमारे संविधान का पोलिश से हिंदी अनुवाद पहली बार भारतीय पाठकों के समक्ष आया। जहां तक इस विचार के पैदा होने का संबंध है—मैं हमेशा से चाहता रहा हूं कि कुछ ऐसा नया सीखूं, कुछ ऐसा नया करूं—जो मुझे संतुष्टि प्रदान करता रहे। और जैसा कि पहले बता चुका हूं, मैं अंग्रेजी का सहारा लिए बिना पोलिश-संस्कृति और भारतीय संस्कृति को मिलाना चाहूंगा। बस एक शर्त है—इस दिशा में हमारे भारतीय भाई भी प्रयत्नशील हों।

अच्छा, इसी संदर्भ में एक बात बताइए। यहां जब आप लोगों से हिंदी में बातचीत करते हैं, तो लोगों की क्या प्रतिक्रिया रहती है?

आमतौर पर लोग इस बात को पसंद करते हैं। कभी-कभार मेरी भाषा का मजाक भी उड़ाते हैं, खासतौर पर उच्चारण को लेकर। वैसे, इस प्रकार का अनुभव मुझे तभी हुआ है जब मैंने अपरिचितों के बीच हिंदी का प्रयोग किया। परिचितों के बीच तो मैं स्वीकार कर लिया गया हूं, इसलिए मजाक का प्रश्न नहीं उठता। यहां एक घटना मुझे याद आती है। 30 वर्ष पहले की बात है। मैं दिल्ली से बनारस जा रहा था। उस समय मैं हिंदी सीख ही रहा था। उस समय मैंने सीखा था कि 'कुछ' का अर्थ 'थोड़ा' होता है। रेलगाड़ी में मुझसे किसी ने पूछाः "क्या आपको हिंदी आती है?" मैंने बहुत आत्मविश्वास के साथ जवाब दियाः "जी नहीं, बहुत कुछ आती है।" ... पर उस समय मैं मजाक का पात्र नहीं बना था।

हिंदी सीखते समय आपको और किन-किन प्रमुख भाषिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा?

जहां तक मुझे याद है, कोई खास नहीं। बस, पोलिश-भाषियों के लिए हिंदी की मूर्धन्य-ध्वनियां, महाप्राण ध्वनियां तथा स्वरों का ह्रस्वी-दीर्घीकरण तुलनात्मक रूप से कठिन होता है।

भारत में इतनी सामाजिक-सांस्कृतिक तथा भाषिक विविधताएं दिखाई देती हैं, फिर भी एक कड़ी इन्हें आपस में जोड़े हुए है। क्या आप सोचते हैं कि भारतीय भाषाएं सीखने के लिए इन विविधताओं का प्रत्यक्ष ज्ञान भी आवश्यक है?

जरूर। एक सांस्कृतिक-पृष्ठभूमि का ज्ञान बहुत जरूरी है। भाषा के साथ-साथ उसका परिवेश जानना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि हर शब्द के पीछे एक दुनिया होती है। जैसे देखिए, हिंदी में 'भोजन' शब्द को लीजिए। उसकी अपनी थाली की दुनिया है, पत्तों-पत्तलों पर खाने की दुनिया है, केले के पत्तों पर परोसे जाने की दुनिया है—'दुनिया' का ज्ञान आवश्यक है, नहीं तो हम कैसे जानेंगे कि भोजन पत्तलों पर भी परोसा जा सकता है। अगर शब्द-प्रति-शब्द भाषा को सीखा जाए तो हममें और कंप्यूटर में क्या फर्क रह जाएगा? जब तक भाषा के अंदर प्रवेश न किया जाए, उसे महसूस न किया जाए, तो इसे हम निगल भले लें, उसे पचाना मुश्किल हो जाएगा।

आपके विचार जानने के बाद यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आप कई लोगों के प्रेरणा स्रोत बन सकते हैं। अंत में आप अपने भारतीय बंधुओं को कुछ संदेश के रूप में बताना चाहेंगे?

क्या संदेश दे सकता हूं मैं? बस इतना कह सकता हूं कि मैंने अपने को तभी समझा जब मैंने भारतीयों को समझा। इसी प्रकार भारतवासी भी तभी अपने को पूरी तरह से समझेंगे, जब वे यूरोपीय लोगों को समझेंगे। आपस में टकराव होने पर ही सीखना संभव हो पाता है। जैसे बच्चा पहले अपने को ही सब कुछ समझता है, फिर अपने को माँ से अलग करता है, फिर पिता से, फिर परिवार से। क्रमशः समाज, देश और दुनिया से। और इस दौरान वह हर बार कुछ न कुछ सीखता है। हम अपनी संस्कृति के भागीदार तभी होंगे, जब हमारा दूसरी संस्कृति से साक्षात्कार होगा। इसके लिए जरूरी है कि अपनी भाषा के साथ-साथ हम अन्य भाषाओं को भी सीखें। दूसरी भाषाओं का साहित्य पढ़ें। दूसरों के सोच-विचार को समझें और फिर उस परिप्रेक्ष्य में अपनी भारतीयता को आप लोग पहचानें। बस ? □

पोलैंड के हिंदी विद्वान प्रो. मारिया क्रिस्तोफर ब्रिस्की के साथ मंजु गुप्त की बातचीत

चौदह सितंबर—'हिंदी दिवस' पर विशेष

चौदह सितंबर का दिन 'हिंदी दिवस' के रूप में मनाया जाता है। यह दिन हम सब के लिए संकल्प लेने का होता है कि अपने कार्यकलाप में अधिक से अधिक हिंदी का प्रयोग करें। जगह-जगह हिंदी से संबंधित गोष्ठियों का आयोजन किया जाता है, परिसंवाद आयोजित किए जाते हैं। सरकारी, अर्धसरकारी और दूसरे सार्वजनिक उपक्रमों में हिंदी पखवारा, हिंदी सप्ताह मनाया जाता है और उद्देश्य एक ही होता है—हिंदी का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार। यह विदित है कि हिंदी भारत और भारतेतर कई देशों में लिखी-पढ़ी बोली और जानी जाती है। अगर आंकड़े जुटाए जाएं तो कहा जाता है कि संसार के सौ विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जाती है। विदेशों में इस भाषा में शोधकार्य होते हैं। अभी-अभी नौ अगस्त के दिन हमने ऐतिहासिक भारत छोड़ो आंदोलन की पचासवीं वर्ष गांठ मनायी। यह याद किया गया कि स्वाधीनता की लड़ाई हमने इसी भाषा के माध्यम से लड़ी और हम स्वतंत्र हुए। पर स्वतंत्रता के पैंतालीस वर्षों बाद हिंदी की क्या स्थिति है? इस सवाल को केंद्र में रखकर पिछले दिनों कुछ साहित्यकार, संपादक, सांसद से हम मिले और उनके विचार जाने।

राष्ट्रीय एकता के लिए हिंदी का प्रसार जरूरी

सी.ए. मेनन, मंत्री, गांधी स्मारक निधि, नयी दिल्ली

हम लोग जब गांधी जी के नेतृत्व में देश की आजादी के लिए लड़ रहे थे तब हिंदी के प्रति जागरूकता का काम भी कर रहे थे। स्वतंत्रता और हिंदी दोनों साथ-साथ थे। आजादी के बाद जब हिंदी को राजभाषा बनाया गया तो चौदह सितंबर को हिंदी दिवस मनाने का प्रस्ताव इसलिए लाया गया कि इससे लोगों में हिंदी के प्रति प्रेम पैदा हो सके। यह विशेषरूप से अहिंदी भाषी प्रांतों के लिए एक योजना है। इस दिन देश भर के हिंदी प्रचारक मिल बैठकर अपने अनुभवों का आदान-प्रदान करते हैं और इसके प्रचार के लिए प्रतिबद्ध होते हैं।

मैं हिंदी के प्रति आशावान हूं। इसका भविष्य उज्ज्वल है। थोड़ी बहुत दिक्कत हमारी आधुनिक संस्कृति से हुई है। इसमें भौगोलिक दृष्टिकोण आड़े आ गया है। विज्ञान और दूसरे तकनीक इसमें नहीं आ सकते। इसके लिए विनोबा जी ने त्रिभाषा-फार्मूला की बात कही थी जिससे हम दुनिया से जुड़ते हैं। मातृभाषा बाईं आँख है, राष्ट्रभाषा दाईं और अंग्रेजी दूरबीन की तरह है। अंग्रेजी आज केवल

साम्राज्यवादी भाषा नहीं है, वह हमारे कई राज्यों की भाषा भी हो गई है। फिर भी, उसके प्रभुत्व को तोड़ने की जरूरत है। हिंदी को वह स्थान तो मिलना ही चाहिए जिसकी वह अधिकारी है। हिंदी बढ़ रही है, धीरे-धीरे ही सही उसका फैलाव राष्ट्रव्यापी हो रहा है। अहिंदी भाषी राज्यों में लाखों परीक्षार्थी उसकी परीक्षाएं देकर उसके महत्त्व को बढ़ा रहे हैं।

इसलिए यह कहना अनुचित नहीं लगता कि उसका भविष्य अच्छा है। हिंदी भी रूसी, चीनी, जापानी की तरह एक प्रौढ़ और मानक भाषा बनने की राह में है। पर हिंदी की हानि में उत्तर भारत का कम योग नहीं है। ये लोग अपनी इस महान भाषा को आगे न बढ़ाकर अंग्रेजी की ओर दौड़ते हैं। अंग्रेजी तो आज चीन और जापान में भी बढ़ रही है। इसके लिए हमें चिंतित होने की कोई बात नहीं है। हमें हिंदी को राष्ट्रव्यापी बनाना है। जिससे पूरा देश एक सूत्र में जुड़ सके।

राष्ट्रव्यापी आंदोलन की जरूरत

निर्मला देशपांडे, संपादक, समाजसेवी

चौदह सितंबर को हिंदी दिवस लोगों को हिंदी की महत्ता बताने के लिए मनाया जाता है। हिंदी तो राजभाषा बन गई पर उसे वह सम्मान मिला कहां जिसकी वह हकदार है। इसके लिए हम दोषी हैं। इस दिन तो कम से कम उसकी याद आती है। हिंदी की दुर्दशा का मुख्य कारण हम भारतीयों की मानसिकता है। 9 अगस्त 1942 को जब अगस्त क्रांति हुई थी तो उस समय मैं बहुत छोटी थी। पर हिंदी प्रेम की वह दीवनगी बराबर याद आती है मुझे। आज तो आलम यह है कि हिंदी के लेखक और पत्रकार ही अपने बच्चों को कॉन्वेंट में पढ़ा रहे हैं। हिंदी को क्यों उसका स्थान नहीं मिला? प्रजातंत्र में तो सबका स्थान है वहां सबकी मांग का मतलब है।

हिंदीतर राज्यों में ऐसा नहीं है कि हिंदी के प्रति बहुत दुराव है, पर वहां के प्रतिष्ठित लोग बच्चों को कॉन्वेंट में पढ़ाते हैं। और वे खुद अंग्रेजी में बात करना पसंद करते हैं। इसके लिए हम जिम्मेदार हैं और अब सवाल अपने से ही करना होगा। आज तो अंग्रेज नहीं हैं।

सवाल केवल हिंदी का नहीं है। यहां तो सभी भारतीय भाषाओं की हालत दयनीय है। अंग्रेजी को लेकर सबमें पागलपन सवार है। लोग यह मान बैठे हैं कि इससे प्रतिष्ठा मिलती है। पर इससे बड़ा नुकसान हो रहा है। धर्म, दर्शन, साहित्य और हमारी अमूल्य संस्कृति की क्षति हो रही है। अंग्रेजी ने योग को योगा, राम को रामा और कृष्ण को कृष्णा कर दिया है। अब तो हिंदी और सभी भारतीय भाषाओं

को प्रतिष्ठित करने के लिए राष्ट्रव्यापी आंदोलन की जरूरत आ खड़ी हुई है। आज के बच्चे कहां अपनी भाषा को जान रहे हैं? फिर भी, मैं तो कहूंगी कि भविष्य अच्छा है। आज नहीं तो कल स्थिति सुधरेगी। पर सबको चेतने और सोचने की जरूरत है।

जिन लोगों ने चाहा कि कुछ दिनों तक अंग्रेजी बनी रहे उसके मूल में दक्षिण को लेकर भावना थी। इसे हम साजिश नहीं कह सकते कि एकबारगी ही हिंदी को क्यों समूचे देश के लिए अनिवार्य नहीं किया गया। आज स्थिति बदली है और दक्षिण के लोगों में भी हिंदी प्रेम बढ़ा है। आज अगर वहां कुछ लोग विरोध करते हैं तो उसके दूसरे कारण हैं। कई कारणों से हिंदी को अनिवार्य नहीं किया गया। लेकिन असलियत यह है कि आज देश भर में हिंदी बोली-समझी जा रही है। इतिहास कल इसके हक में जरूर फैसला देगा। हिंदी को अनिवार्य बनाने के मार्ग में देश विभाजन बाधा बना था। उस आपात घड़ी में कोई भी कठोर कदम अनुचित करा सकता था। विभाजन के कारण ऐसा हुआ कि हिंदी अनिवार्य नहीं की गई। मुझे याद आ रहा है 15 अगस्त 1947 का पहला स्वाधीनता दिवस, जब बी.बी.सी. के संवाददाता ने महात्मा गांधी से इस मौके के लिए संदेश देने को कहा था—तब गांधीजी का उत्तर था—'दुनिया से कह दो कि गांधी आज से अंग्रेजी भूल गया।' और आज कितना दुःख होता है जब हिंदी का भूल जाना हम अपनी आंखों देख रहे हैं। विनोबा जी दक्षिण में घूम घूमकर हिंदी का प्रचार करते रहे थे। वे हर जगह हिंदी में भाषण देते थे और मौका आने पर वहां की भाषा में समझाते थे। एकबार तो ऐसा लगा कि पत्थर चलेंगे। मैं भी उनके साथ थी, पर कुछ नहीं हुआ। उन्होंने तमिल में हिंदी सीखने, समृद्ध करने और भारतीय एकता की बात कही थी। हिंदी की लड़ाई तो अंग्रेजी से है, भारतीय भाषाएं तो उसकी बहनें हैं, यह बताने की जरूरत है। भारतीय भाषाओं का विकास तब संभव है जब जनता की मानसिकता बदलेगी। हमें अपनी स्मृति ही नहीं है कि हम क्या हैं? स्मृति जब होगी तो भाषा याद आएगी।

हिंदी बढ़ रही है

शंकर दयाल सिंह, सांसद-साहित्यकार

हिंदी राजभाषा 14 सितंबर 1950 को ही बनी थी जब उसे संविधान ने स्वीकृति दी थी। हिंदी दिवस या सप्ताह इसीलिए मनाया जाता है कि उसकी स्मृति लोगों को हो। इस दिवस पर बहुत दिखावा भी होता है, पर इसी बहाने माहौल हिंदीमय हो जाता है जिससे प्रेरणा मिलती है। बहुत से कार्यालयों में हिंदी में इसीदिन काम की

शुरूआत भी होती है।

हिंदी का भविष्य बहुत बुरा नहीं है। चूंकि मैं कई सरकारी-गैरसरकारी संस्थाओं से संबद्ध हूं जिसके माध्यम से हिंदी के प्रचार-प्रसार का निरीक्षण-अध्ययन करता रहा हूं। इसलिए यह लगता जरूर है कि हिंदी बहुत बढ़ी है। बहुत से कार्यालयों में तमाम विघ्न-बाधाओं के बावजूद हिंदी ने अपनी जगह बनायी है और बनाती जाएगी।

दूसरी बात जो मैं खास तौर पर कहना चाहूंगा वह यह कि हमारे यहां जनता और शासन की भाषा अलग-अलग रही है परंपरा से। पालि, प्राकृत, अंग्रेजी, फारसी सभी शासन की भाषा के उदाहरण हैं। यह पहली बार हुआ कि एक जनभाषा (हिंदी) राजभाषा भी हो गई। यह मानसिकता अभी लोगों में है कि यह पिछड़ों की भाषा है।

मैं समझता हूं कि अगर राजभाषा बनाने के साथ ही हिंदी को देश पर सख्ती से लागू किया गया होता तो बहुत अच्छा हुआ होता। मुझे इस पर दुःख होता है। लेकिन जब सोचता हूं तो लगता है कि वह समय बड़ा कठिन था। बिखराव की भी संभावना इस कदम के उठाने से हो सकती थी। पर इस देश की स्थिति और देशों से भिन्न है। यहां की अन्य भाषाएं भी बड़ी समृद्ध हैं। इन सारी बातों को देखते हुए इस कदम पर संभवतः आपत्ति नहीं होती।

हिंदी को जब राजभाषा बनाया गया तब भारत की संविधान सभा के अध्यक्ष और हिंदी प्रेमी राजेंद्र प्रसाद थे। 1965 का संशोधन तो लाल बहादुर शास्त्री के काल में आया जब यह कहा गया कि हिंदी को जब तक सभी स्वीकार नहीं करेंगे तब तक हिंदी-अंग्रेजी साथ-साथ चलेंगी। 1977 में मोरारजी भाई की सरकार ने भी ऐसा कोई निर्णय नहीं लिया जो पहले से अलग हो। इन्हें देखते हुए यह महसूस होता है कि सबने देश की एकता को ध्यान में रखकर ही ऐसा किया है। इसलिए इसे हमको भी स्वीकार करना होगा।

अभी हाल में मैं कुछ देशों के भ्रमण पर गया था। मसलन—सूरीनाम, त्रिनीदाद (पोर्ट ऑफ स्पेन आदि)। यहां 150 वर्ष पूर्व भारतीय आ बसे थे। उन लोगों ने क्रांति के तौर पर हिंदी को लिया है। वे मानते हैं कि उनकी संस्कृति भारतीय है और वे हिंदी के माध्यम से उसे जिलाए रख सकते हैं। वहां के लोग हिंदी सीखते-पढ़ते हैं तथा व्यवहार करते हैं। पचास वर्ष पहले सब लोग हिंदी-भोजपुरी जानते थे। पर जब अंग्रेजी वहां घुसी तो उन्हें डुबोने लगी। अब आकर लोगों की आंखें खुली हैं और लोग हिंदी की क्रांति करने पर उतारू हैं। अभी हाल ही में कैरेबियन देश पोर्ट ऑफ स्पेन में अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन हुआ था जिसमें 18 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। मुझे लगता है कि उतनी दूर जाकर भारतीय ऐसा कर सकते हैं तो हम क्यों नहीं कर सकते। अगर समय रहते हम ऐसा नहीं करेंगे

तो पश्चाताप होगा बाद में। हमें अपने पुराने गौरव की ओर लौटना ही होगा।

तमाम बाधाओं के बावजूद हिंदी बढ़ रही है। मेरा अपना पूर्ण विश्वास है कि कार्यालयों, सार्वजनिक उपक्रमों, बीमा निगमों, रेलवे आदि में हिंदी अपनाई जा रही है तो इसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसका महत्व बढ़ रहा है। लेकिन विद्वानों की हिंदी और सामान्य काम-काज की हिंदी में फर्क तो होगा ही। गांधीजी ने भाषा के छह सूत्र दिए थे उसमें यही था कि हमें ऐसी हिंदी को ही बढ़ावा देना चाहिए जो समझने-बोलने और काम करने में आसान हो। तो इसका निर्धारण विद्वान न करके लिपिक करेगा। आशय यह है कि हिंदी किसी के रोके नहीं रूकनेवाली। वह जगह बना रही है और अब धीरे-धीरे देश के हिंदीमय होने की स्थिति बन रही है।

हिंदी के लिए संकल्प लें

वीणा वर्मा, सांसद, राज्य सभा

आज सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि राजभाषा हिंदी को किस प्रकार सरकारी कार्यालयों में बढ़ावा दिया जाय। इसी बात को ध्यान में रखकर 'हिंदी दिवस' मनाए जाने की योजना बनायी गई थी। इस योजना का निहित उद्देश्य यह रहा है कि इस अवसर पर सरकारी कार्यालयों के कर्मचारी और दूसरे लोग लेखों, कविताओं और भाषणों आदि के माध्यम से इस भाषा के प्रचार-प्रसार में योगदान दें। जिसके परिणामस्वरूप यह अहसास पैदा हो सके कि हिंदी राजभाषा है और देशव्यापी राष्ट्रभाषा बनने की क्षमता इसी में मौजूद है। इस भाषा की अपनी पहचान इसी रूप में उभरकर सामने आ सकती है और आई भी है। लेकिन इस दिवस को मनाए जाने की गड़बड़ियां भी हैं। इसकी महत्त्वपूर्ण कमी यह है कि कार्यालयों में नारे, पोस्टर और भाषणों के माध्यम से हिंदी दिवस पर हिंदी सप्ताह या पखवारे का कार्यक्रम आयोजित कर केवल तीसरे या चौथे दर्जे के कर्मचारी ध्यानाकृष्ट करते हैं, प्रायः बड़े अधिकारी इसमें रूचि नहीं लेते। इस दिवस का लाभ तो तब है जब कार्यालयों के बड़े अधिकारी इसमें उत्साह दिखाएं। जिस दिन से यह होने लगेगा, सही मायने में उसी दिन से हिंदी की समुचित सेवा हो सकेगी।

मैं यह बेहिचक कह सकती हूं कि हिंदी के प्रति उदासीनता की वजह अफसरशाही है। अफसरों ने आम लोगों में अंग्रेजी का हौवा खड़ा कर दिया है जिससे बड़े पैमाने पर लोग अंग्रेजी में ही आवेदन तक करते, करवाते हैं। अगर जनता हिंदी में आवेदन करेगी तो काम नहीं होगा। यही कारण है कि कुछ लोगों के

चलते असंख्य लोग दबाए जाते हैं। यह अंग्रेजी भक्ति की मानसिकता कार्यालयों और अधिकारियों तक ही है, पर देश भर का काम तो यहीं से होता है। हमें इस मानसिकता को बदलना होगा। हम संविधान में तो ऐसी व्यवस्था नहीं कर सकते कि गैर हिंदी राज्यों पर हिंदी थोप दी जाए। हिंदी का प्रसार तभी संभव है जब लोग इसकी महत्ता को समझें। हमने इसकी जिम्मेदारी अफसरों और अधिकारियों पर लादकर गलत किया है। इसे सुधारना होगा। मैं समझती हूं कि बोलचाल की हिंदी का प्रयोग हो तब बात बनेगी। लेकिन इसके लिए पर्याप्त इच्छाशक्ति की आवश्यकता है। सारी बीमारी हम लोगों की ही अलस मानसिकता के कारण है। मगर सच्चाई इसमें जरूर है कि हिंदी को बढ़ावा देने के लिए सरकार प्रयत्नशील है। राष्ट्र की एकता को मजबूत करने के लिए यह बड़ा संकेत है। लेकिन जैसे-जैसे तकनीकी चीजें बढ़ रही हैं, इसमें मुश्किल आती जा रही है। आज हम केवल भारत के नहीं हैं, विश्व नागरिक भी हैं। जाहिर है, ऐसी स्थिति में अंग्रेजी बहुत महत्त्वपूर्ण हो गई है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रसार से भी अंग्रेजी की स्थिति मजबूत हो रही है। फिर भी, हिंदी का भविष्य उज्जवल है। मैं तो यहां तक सोचती हूं कि हिंदी को लेकर एक बाध्यता भी हो। और इसके लिए संस्कृति पर भी ध्यान देने की जरूरत है। मैं तो मानती हूं कि किसी भी देश को जिंदा रखने के लिए वहां की भाषा और संस्कृति का विकास बहुत जरूरी है। जापान इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। मैं तो दूसरे समाचारों की तरह सांस्कृतिक समाचारों के प्रकाशन-प्रसारण की बात करती रही हूं। बच्चों में भी इस तालीम की जरूरत है। चौदह सितंबर का हिंदी दिवस इसी संकल्प को लेकर आता है।

संपर्क भाषा के रूप में प्रसार की जरूरत

डॉ. मैनेजर पाण्डेय, आलोचक, वरिष्ठ हिंदी प्राध्यापक
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

देश की संपर्क भाषा के रूप में हिंदी के विकास और प्रसार की जरूरत है। लेकिन हिंदी के विकास के नाम पर जो कुछ हो रहा है और जिस ढंग से हो रहा है वह बहुत उत्साह वर्धक नहीं है। मुझे तो हर साल चौदह सितंबर को मनाया जाने वाला हिंदी दिवस अर्थहीन लगता है। यह सालाना त्यौहार बन गया है। जो लोग हिंदी के प्रचारक बने हुए हैं वे लोग हर साल हिंदी दिवस के अवसर पर समारोहों में शामिल होकर कुछ दान-दक्षिणा पाते हैं, लोगों को उपदेश देते हैं हिंदी के भविष्य के बारे में आश्वासन भी देते हैं और बाद में सब कुछ भूल जाते हैं। मैं अनेक ऐसे लोगों

को जानता हूं जो हिंदी दिवस के अवसर पर दूसरों को हिंदी में काम करने का उपदेश देते हैं लेकिन स्वयं अपने कार्यालय में हिंदी लागू नहीं करते। यही कारण है कि मैं चौदह सितंबर को मनाए जाने वाले हिंदी दिवस को एक अर्थहीन नाटक कहता हूं।

सरकारी कार्यालयों, जनसंचार के माध्यमों और संसद आदि में भी, जिस तरह की हिंदी बन रही है और चल रही है उससे हिंदी का हित होने वाला नहीं है। मुझे हिंदी की सरकारीकरण की प्रक्रिया हिंदी के विकास और प्रसार में एक बड़ी बाधा नजर आती है। कभी-कभी तो ऐसा भी लगता है कि सरकारीकरण की प्रक्रिया के कारण हिंदी मध्यकाल की फारसी या आधुनिक काल की अंग्रेजी बनती जा रही है। मेरा आशय यह है कि हिंदी ज्यों-ज्यों सरकारी भाषा होती जा रही है त्यों-त्यों वह आम जनता से दूर होती जा रही है। इसलिए आजकल कई तरह की हिंदी का प्रचलन दिखाई देता है। एक है सरकारी हिंदी, दूसरी है रेडियो और टेलीविजन की हिंदी, तीसरी है पत्रकारिता की हिंदी, चौथी है साहित्यिक हिंदी और पांचवीं साधारण जनता के बीच बोली जाने वाली जीवन व्यवहार की भाषा के रूप में हिंदी। इधर हाल के वर्षों में हिंदी के इन विभिन्न रूपों में दूरी बढ़ी है। विभिन्न बोलियों से हिंदी का संबंध टूटा है और हिंदी क्रमशः निर्जीव बनती जा रही है। मुझे लगता है कि अगर हिंदी को बचाना और विकसित करना है तो उसे संस्कृत की तरह पंडितों की भाषा और फ़ारसी तथा अंग्रेजी की तरह शासकों की भाषा होने से बचाना जरूरी है।

हिंदी : जनभाषा के रूप में

अरविंद त्रिपाठी, युवाकवि, लेखक, पत्रकार

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में बहुत कम राजनीतिज्ञ थे जो भाषा के स्तर पर जागरूक थे। सन् बयालीस में समाजवादी नेताओं ने पहल जरूर की थी कि स्वतंत्र देश के साथ एक स्वतंत्र भाषा भी हो। आचार्य नरेंद्र देव, जयप्रकाश नारायण, लोहिया, पुरूषोत्तम दास टंडन इन लोगों में थे। हिंदी भाषा का विकास हिंदी लेखकों, पत्रकारों, पाठकों, सामान्य जनता के प्रयास से अधिक हुआ। हिंदी जनभाषा के रूप में सशक्त है और कविवर नेपाली ने कहा था कि हिंदी है भारत की बोली तो अपने आप पनपने दो।

आज अंग्रेजी भाषा से देश को उतना खतरा नहीं है जितना 'अंग्रेजी कल्चर' से। भाषा के स्तर पर यह विदेशी गुलामी ज्यादा भयावह है जिसने हमारे स्वाभिमान को आहत किया है। संपूर्ण भारतीय भाषाओं का साहित्य जिस तरह हिंदी में अनूदित हो रहा है और उसे जनमानस पढ़ रहा है यह कहना होगा कि हिंदी का किसी भाषा के साथ वैर नहीं है—वह सबको साथ लेकर चलती है। इसका भविष्य आशाजनक है।

प्रस्तुति : ज्योतिष जोशी

बर्मी कहानी

फो तें:

टै टो:

कोउ कांई स्ट्रीट के भीतरी भाग में एक स्थान है, जो गुलाब वृद्ध गृह के नाम से लोकप्रिय है। इस आश्रम के शयन कक्षों के बाहर बरामदे में एक कतार से रखी गई आराम कुर्सियों पर सुबह के नाश्ते के बाद दादे-दादियां बैठे विश्राम कर रहे थे।

एक वृद्ध, उम्र से मेल न खानेवाली साफ और ओजस्वी आवाज में धार्मिक प्रवचन कर रहा था। कुछ दादे-दादियां कुर्सियों पर आंखें बंद कर बैठे थे। कुछ ने मुंह में किसी चीज को रखा हुआ था। कुछ लोग माला फेरते हुए मुंह से कोई जाप कर रहे थे। एक दादी भीतरी घास के मैदान की ओर चढ़नेवाले दरवाजे के निकट चाय के पैकेट को खोलकर दो ऊंगलियों से कांपते हुए चाय के पत्तों की चाट को उठाकर मुंह में डालकर चबा रही थी। एक दूसरी उसके नजदीक आकर मक्की पत्ते के एक चुरुट को सुलगाकर कश लगा रही थी। कुछ दूर पर बैठा एक बूढ़ा अपनी कमीज की पॉकिट से एक फीजां केला निकालकर छिलका उतारने के बाद चबाते हुए अर्थ भरी मुस्कान भर रहा था। उसकी कल्पना और उसकी मुस्कुराहट को भला कौन समझ पाएगा?

कुर्सियों की कतार के अंत में शयन कक्षों से सबसे निकट की कुर्सी पर फो तै: टि अपनी आंखें बंद किए बैठा हुआ था। उसके हाथ की माला का जाप रुक गया था। उसका हाथ माला थामे स्थिर हो गया था।

फो तें: टि उम्र में सबसे वृद्ध था। दादा-दादी आश्रम में ही सबसे अधिक उम्र का न था। शायद सारे बर्मा में सबसे अधिक उम्र का बूढ़ा। सारी एशिया में सबसे अधिक आयु वाला व्यक्ति एक कोरिया वासी था। उसका देहांत 130 वर्ष की लंबी आयु में हुआ था। उसकी मृत्यु के बाद शायद फो तें: टिं सबसे अधिक उम्र वाला व्यक्ति था। उसकी एक सौ इक्कीस वर्ष की उम्र से बड़े व्यक्ति को खोज पाना आसान नहीं बड़ा ही मुश्किल था। जब तक वह व्यक्ति खोज नहीं लिया जाता, यह कहा जा सकता है कि वह फो तें: टिं एशिया महाद्वीप का सबसे अधिक उम्र वाला व्यक्ति है। लेकिन इस तथ्य को फो तें: टिं नहीं जानता था। इसकी वह परवाह नहीं करता था। वह ही क्यों, हर रोज ज्ञानवर्द्धक कार्य में लगे हुए सुचेतकों का भी इस ओर ध्यान नहीं गया था। किसी ने भी फोतें:टिं को एशिया का वयोज्येष्ठ व्यक्ति के रूप में रिकार्ड नहीं किया।

फो तें: टिं को दादा-दादी आश्रम के सबसे अधिक उम्र वाले व्यक्ति के रूप में आश्रम की कार्यकारिणी समिति ने घोषणा की। आश्रम की पत्रिका में उसके चित्र के साथ

उसका विवरण भी दिया। उसकी संक्षिप्त जीवनी छापकर दानी पुरूषों का आश्रम की ओर ध्यान आकर्षित किया।

फो तेंः टिं को आश्रम के कर्मचारी "फो तेंः" कह कर पुकारते। बूढ़े या दादे भी उसे फो तेंः या ऊतेंः कहकर बुलाते। दूसरे दादे या दादी भी उससे उम्र में बहुत छोटे थे। इसलिए आश्रम की प्राध्यापिकाओं की तरह ही अधिकतर फो तेंः के नाम से पुकारतीं। सौ साल की उम्र वाले फों तौटा अकेला ही उसे ऊ तेंः कह पुकारा करता था। छियानवे साल की आयुवाला फोः चौ भी कभी-कभाकर ऊ तेंः कह पुकारा करता था।

फो तेंः आराम कुर्सी पर आंखें मूंदे शांत बैठा था। उसके कानों में कुछ दूर से सारी आवाजें आ रही थी। आश्रम की एक प्राध्यापिका एक मेहमान परिवार को घूम-घूम आश्रम दिखाती आयी थी और निकट आती हुई कुछ समझा रही थी। कुछ दूर पर एक मोटर के रूकने की ब्रेक की आवाज फो तेंः के कानों में एकाएक तेज गति से प्रवेश कर गई। धार्मिक पाठ का उच्चारण कर रहे दादा की आवाज अन्य आवाजों को पार करती हुई लगातार सुनाई दे रही थी।

आश्रम के बरामदे में एक दूर के कोने में बैठा फो तेंः यह नहीं जानता था कि वह पूरे एशिया में सबसे अधिक उम्र वाला है। यदि जान भी पाता तो उसे कोई फर्क पड़ने वाला नहीं था। एक बाल पर लटकी उसकी जान, किसी भी समय उसके शरीर से निकल जाएगी। अपने से छोटे कम उम्र वाले एक के बाद एक संसार को छोड़ गए थे। अपनी बारी न आने की प्रतीक्षा करना बड़ा ही कष्टदायी होता है।

यमराज के रथ की प्रतीक्षा करते हुए जिस जीवन को हम पार कर आते हैं उसको फिर से यादकर मृत्यु शय्या पर लेटे-लेटे अतीत की घटनाओं को न तोड़ सकने वाले मोह की जंजीर द्वारा बांध-बांधकर खींचने पर दोबारा वहीं पहुंच जाते हैं।

जब-जब भी प्राध्यापिकाओं की "फो तेंः फो तेंः" पुकारने की आवाज उसे सुनाई देतीं, फो तेंः के लिए कोतेंः को तेंः कह बड़ा ही मधुर वाणी से किसी महिला की पुकारने वाली एक आवाज की याद ताजा हो जाया करती थी। आवाज भी मिलती-जुलती थी और बुलाने का ढंग भी मिलता-जुलता था।

उस आवाज की मलिका कुछ समय पहले प्रस्थान कर चुकी थी। यमराज के रथ में कहीं दूर जा चुकी थी। "मा् सौं ला- मा् सौं ला" कहकर फो तेंः ने अपने मुंह से धीरे से पुकारा। पर दूसरे ही क्षण संकोच में आकर चुप हो गया। पास बैठे फोः तौ टा ने तो कहीं नहीं सुन लिया? फोः तौ टा उम्र की तुलना में बहुत अच्छा सुन लेता था। जितनी आंखें कमजोर थीं, उतनी ही उसके कान तेज थे। इस राज को वह अच्छी तरह जान चुका था। इसीलिए उसे भय-सा लगा, शर्मिंदगी-सी महसूस हुई और उसने आंखें खोलकर तिरछी नजरों से फोः तौ टा की ओर एक बार देखा। बच गए। फो तौ टा सोया हुआ ही लगा।

"मा् सौंला् अभी होती तो उनकी आयु भी पूरे एक सौ दस साल की होती। अरे कैसे होती? यह तो मेरा विरला सौभाग्य है कि मैं अन्य लोगों से अधिक जी रहा हूं, दूसरों

से ज्यादा लंबी आयु पायी है मैंने। आजकल तो सौ साल भी जी पानेवाला व्यक्ति देखने में नहीं आता है।"

फो तें: ने मन ही मन उस समय काल का अंदाजा लगाया जब से उसकी पत्नी का देहांत हुआ है।

"अरे पूरे साठ साल हो गए हैं। मैंने तो यह समझा था कि उसे मरे अभी कुछ ही दिन हुए हैं। मा् सौंला जब पचास पूरा करने वाली थी तभी कुछ महीने पहले उसका देहांत हो गया था। कौन-सा साल था, वह याद भी नहीं रहा।"

फो तें: साठ साल के समय काल को अचानक ही पार कर गया था। उसकी पत्नी डौ सैला् कहने के लिए पचास साल की थी। अभी काफी सुंदर और जवान दीखती थी। हृष्ट-पुष्ट और आकर्षक देह की मलिका होने के कारण उम्र काफी होने पर भी सूख जाने के बजाय और अधिक आकर्षक एवं परिपक्व लगती थी। डौ सैला् का गोरा गोरा सुंदर मुखड़ा न मिटने वाली लंबी मुस्कराहट के कारण और चमकीला-सा जान पड़ता—ऐसा ऊ तें: टिं को महसूस होता था।

"कों तेः आप अपना चेहरा यूं कठोर बनाकर न रखा करें। एक तो आपकी उम्र ज्यादा है दूसरे आप इसे कठोर कर लेते हैं। इसी से ज्यादा उम्र के दीखते हैं... सदा मुस्कराते रहिए।"

डौ सेला् द्वारा कहे गए शब्द भी फो तें: को याद आने लगे।

बड़ी उम्र की होने पर भी कम आयु की सुंदर दीखने वाली उसकी पत्नी जिसे सुंदरता बहुत लुभाती थी, उसकी आंखों के सामने बड़ी ही दर्दनाक, मर्मपूर्ण ढंग से मरी थी। सर्दी का मौसम था। शाम के समय सूर्य डूब रहा था। उस सुहावनी संध्या में ऊ तें: टिं फूल के पौधों को पानी दे रहा था। डौ सेला् अपने मकान की दूसरी मंजिल के बरामदे के जंगले का सहारा लिए अपने पति से बातें कर रही थी। संध्या के समय डूबते सूर्य की लाल-लाल किरणें जब उसके चेहरे पर पड़ रही थीं, तभी नीचे से ऊपर ताकने वाली ऊ तें टिः की आंख से ऐसे लग रही थी मानो वह ठीक उन्नीस वर्ष की हो, जब उनका नया-नया विवाह हुआ था। वह पत्नी को प्रेम भरी बातें कह ही रहे थे कि तभी अचानक बरामदे का जंगला टूट गया और डौ सेला् दूसरी मंजिल से जमीन पर धड़ाम से आ गिरीं। ऊ तें: टिं अपनी पत्नी को, जो जमीन पर अचेत-सी पड़ी थी—हैरानी से देखे जा रहे थे। उन्हें अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ क्योंकि वह खुद भी चकरा गयी थीं। और इसीलिए वह दौड़कर उसे गोद में न उठा पाए। कुछ मिनट बीत जाने पर ही उनकी चेतना लौटी और उन्होंने उसे दौड़कर गोद में उठा लिया। डौ सेला् के प्राण पखेरू हो चुके थे। उसके चेहरे पर छायी मुस्कराहट अचानक शायद लुप्त-सी हो गई थी। कुछ ही क्षण में अनुभव हुई वेदना के कारण उभरी उदासी और रूककर थम जम जाने वाली उदास मुस्कराहट शायद आपस में एक हो चुकी थी। मुंह से कुछ खून बहने के अलावा बाहरी कोई चोट नहीं थी। देखने में मात्र ऐसा लग रहा था जैसे डौ सेला् ऊ तें: टिं के हाथ पर सामान्य रूप से बेहोश पड़ी हो।

डौ सेल्ा के अंतिम संस्कार पूरे हो जाने पर भी ऊ तें: टिं के मन में ऐसा लग रहा था जैसे वह अभी भी जिंदा है। उसकी आँखों में डौ सेल्ा बराबर उसे नज़र आ रही थी। हर रात उन्हें यही लगता रहा कि वह टेढ़ी-टेढ़ी सो रही हैं। उन्हें यूं लगा ही नहीं, उन्होंने सचमुच देखा भी। उन्हें विश्वास-सा हो गया कि डौ सेल्ा उसे छोड़कर कहीं नहीं गई है। उन्हें विशेष रूप से रात के समय यह देखता कि डौ सैल्ा पहले की तरह उनके पास बैठी हुई हैं। वह देखते सुनते कि डौ सैल्ा उन्हें को तें: कहकर पुकारती हैं और बातचीत करती हैं। कभी-कभार जब वह उत्तर देते, उनकी पुत्री उनके कमरे में दौड़ी आती और डरी-डरी पूछती कि पिताजी आप किससे बातें कर रहे थे। तब उन्हें वास्तविकता का आभास होता और वह अपने आपको संभालते हुए झूठ कहते कि उन्होंने तो किसी तरह की आवाज नहीं निकाली थी।

''यह कैसे हो सकता है पिताजी, मैंने अच्छी तरह आपको किसी से बात करते हुए सुना है।''

''अच्छा यह बात है तब तो मुमकिन है कि मैं सो गया होऊंगा और सोते-सोते सपने में बातें कर रहा होऊंगा।''

बेटी खिं तिःच्वै को अपने पिता के लिए बड़ी चिंता हुई। उसने पिता को समझाया।

''पिताजी, आप मां के बारे ही न सोचते रहा करें। भला मौत से भी कोई बच सका है। पिताजी मुझे आपको देखकर बड़ा ही अजीब-सा अनुभव होता है। मुझे आपकी बड़ी ही चिंता हो रही है।''

ऊ तें: टिं मुस्कराकर उत्तर दिया करते—

''चिंता मत किया करो बेटी। मैं पूरे होशो-हवास में हूं और जरा भी विचलित नहीं हूं। तुम्हारी मां सदा ही मेरे पास होती है। मेरी इस बात से तुम्हें लगेगा कि मैं पागल हो गया हूं।''

पिता की बातें सुनते ही बेटी को चिंता सताने लगती और अकसर वह भयभीत होकर कहा करती—

''पिताजी, आप अपने आपको संभालिए। देखिए न, अभी तक आपके दामाद साहब भी नहीं लौटे हैं।''

एक दिन जब बेटी का पति घर लौटा तो वह दोनों दबी आवाज में विचार विमर्श करने लगे। कुछ देर बाद एक डाक्टर आया और उसने ऊ तें: टिं को एक इंजेक्शन लगाया। ऊ तें: टिं ने अपनी बेटी को फिर यह कभी नहीं कहा कि डौ सेल्ा उनके पास होती है। पर उन्हें पूरा विश्वास था कि पत्नी सदा उनके पास रहती है और इस बात से वह प्रसन्न एवं संतुष्ट थे।

परंतु बहुत देर तक संतुष्ट नहीं रह पाये। अभी एक साल भी नहीं बीता था कि जापानियों ने बर्मा में प्रवेश कर उसे अपने कब्जे में ले लिया। लगभग हर गांव और शहर में अनगिनत बम गिराए गए और लोगों को बड़े कष्ट हुए। ऊ तें: टिं को भी बेटी और दामाद के साथ किसी अन्य स्थान को जाना पड़ा। वृद्ध होने पर भी काफी चुस्त और चौकस

होने के कारण उसको लेकर बच्चों को कोई अतिरिक्त कष्ट नहीं हुआ।

यह कहना पड़ेगा कि जबसे बम से बचने के लिए वह किसी दूसरे स्थान पर रहे, उनका पत्नी के साथ अलगाव हो गया। वह चाहते थे कि वह जहां भी जांय, डौ सैला भी उनके साथ आए। लेकिन डौ सेला उनकी आशा के विपरीत उनके साथ नहीं गयीं और गुम होकर पीछे रह गई।

डौ सेला से बिछुड़ने पर ही उनके मन पर गहरी चोट लगी। मन पीड़ा, दर्द और वेदना से भर गया। एक छोटे-से शहर के बाहरी हिस्से में एक लंबे चौड़े कटहल के बाग में बमों से बचने के लिए दौड़ते लुकते छिपते हुए दामाद जब प्रादेशिक न्यायाधीश की हैसियत से सेवारत थे, ऊ तें: टिं हर रोज कटहल के पेड़ के नीचे आराम कुर्सी पर बैठकर डौ सेला की प्रतीक्षा करते।

एक दिन संध्या के समय जब सूर्य डूब रहा था—पश्चिम की ओर आकाश में सूरज की कुछ रोशनी बाकी थी तभी फूलों की क्यारियों और उनसे कुछ दूर पर बह रही पानी की नाली को पार करने के बाद कुछ दूर पर बनी एक पुरानी समाधि के बगल में एक औरत दिखायी पड़ी।

ऊ तें: टिं ने कुछ दूर दूसरी ओर स्थित अपनी बेटी की झोपड़ी की ओर नजर उठाकर देखा। किसी आदमी का कोई नामोनिशान दिखाई न देने पर आराम कुर्सी से उठकर उस औरत की ओर तेज कदमों से गए। पानी की नाली उनके खेत के बगल से बह रही थी। ऊ तें: टिं ने नाली पार करने के लिए नाली पर बिछाये हुए बांस की पुलिया का प्रयोग किया। जब वह पुलिया पार कर रहे थे तो उन्होंने उस महिला को ध्यान से देखा और पाया कि वह डौ सेला है। इसलिए वह उसके पास धीरे-धीरे गए। पुरानी समाधि के निकट पहुंचकर हांफती आवाज में "मा् सैला्" कह कर पुकारा उन्होंने देखा कि इस आवाज से पुकारते ही वह महिला जो उन्हें स्पष्ट डौ सेला दीख रही थी। एकाएक ही गाय-बैल चराने वाली एक अजनबी युवती दीखने लगी।

युवती ने उनसे पूछा—

"दादाजी, आप किसे खोज रहे हैं?"

ऊ तें: टिं ने उस युवती के प्रश्न का कोई भी उत्तर नहीं दिया और अचानक मुड़कर सिर नीचा किए नाली को पार करने के लिए पुलिया पर होकर वापस लौट गए।

"यह मेरी मा् सैला् से आखिरी भेंट थी। "फो तें: ने आंख मूंदकर मन-ही-मन कहा।

फों तें: अतीत की दुनिया से वर्तमान की दुनिया में फिर एक बार वापस आ गया। कल अध्यक्ष ने डोउल्लभा यहां भिक्षु वस्त्र धारण करना चाहने वालों की सूची मांगी। फो तें: द्वारा अपना नाम देने पर आश्रम के अध्यक्ष ने कहा।

"चूंकि आप सबसे उम्र में बड़े हैं और आपने भिक्षु बनाने की इच्छा जाहिर की है। यह सब ही साधुवाद की बात है। पर आपकी उम्र में संभव हो पाएगा।"

"मेरी उम्र बड़ी है। पर अभी मुझमें होश है। समझ है। मैं कुशल भी हूं। मैं अवश्य

ही भिक्षु बन सकता हूं और सारे नियमों का पालन कर सकता हूं।"

फो तेंः के उत्तर को सुनकर अध्यक्ष के साथ आए एक समाज सेवी डाक्टर ने कहा—"अध्यक्ष जी, फो तेंः के बारे मुझे यह कहना है कि यह सच है कि इनकी उम्र सौ से अधिक है, पर इनकी सेहत अभी आश्चर्यजनक रूप से अच्छी है। यह हर तरह अभी पूरे स्वस्थ हैं। अभी इनकी आंखें भी कोई खास कमजोर नहीं हुई हैं। यह अच्छी तरह से सुन भी सकते हैं। हां, यह जरूर कह सकते हैं कि ये कुछ कमजोर हैं।"

अध्यक्ष महोदय ने कहा—"मुझे लगता है कि फो तेंः के लिए भिक्षु के रूप में विकालां् भोजना तेइखा पोउ का पालन करना कठिन होगा। पर बहुत उत्साहित होने के कारण वह अधिक से अधिक तीन दिन तक भिक्षु वस्त्र ग्रहण कर सकते हैं।"

फो तेंः अध्यक्ष की बात से बहुत प्रसन्न हुए।

कैलेंडर के अनुसार कराइस के दो हजार साल पूरे होने के दिन और बर्मी कैलेंडर के ... वासो माह की पूर्णमासी के दिन यहां भिक्षु वस्त्र धारण करने की बात को सोचकर फो तेंः बहुत ही प्रसन्न था और भिक्षु जीवन की बात सोचते हुए उसका मन अनजाने में ही अतीत की तरह जा पहुंचा।

जापानी राजकाल के हमले के वर्ष में उसके दामाद का तबादला रंगून में एक वरिष्ठ न्यायाधीश के रूप में हुआ और उसे भी दामाद के साथ ही जाना पड़ा। जिस सांजाः मुहल्ले में वह रहते थे वह इलाका बम वर्षा के लिहाज से सबसे सुरक्षित था। इसीलिए इस मुहल्ले में सारे बर्मी इकट्ठे होकर रह रहे थे। जिस घर में वह रह रहे थे, उसका अपना कंपाउंड था और चारों ओर एक खाली खुला मैदान था। इसीलिए घर के निकट बमों से बचने के लिए सुरक्षा ट्रेंच खोद लिए गये थे और उन्हें काफी मजबूत बना दिया गया था।

फो तेंः की बंद आंखों में जापानी राज की कुछ घटनाओं की स्मृति धुंधली-धुंधली लौटने लगी। एक घटना एकदम साफ होकर उसके दिमाग में घूमने लगी ... चांदनी रात में लगभग बारह बजे अमरीकी हवाई जहाजों द्वारा की गई वह भयानक बम वर्षा ...

रात के बारह बज चुके थे। अचानक तेजी से अलार्म बज उठा। बेटी और दामाद ने सोये हुए तीनों बच्चों को उठाया और तेज़ी से ट्रेंच में दौड़कर दाखिल हो गए। उसका दामाद उसे भी जगाने आया। वह भी हड़बड़ाकर उठा और मेज पर रखी गर्म टोपी को उठाकर पहनने के बाद निकट कुर्सी पर रंखे कोट को लेने हाथ बढ़ा ही रहा था कि दामाद ने टोका—अंकल, जल्दी करें हवाई जहाज ठीक सर पर आ पहुंचे हैं और यह कहकर घबराहट में वह ट्रैंच के भीतर दौड़ आया। ऊ तेंः टिं अभी सीढ़ियों पर ही था। तभी एक बहुत भयानक बम फटने की आवाज सुनाई दी और वह मूर्छित हो गया।

जब उन्हें होश आया तो वह इस बात का फैसला नहीं कर पाए कि वह उसी वर्तमान काल में हैं या दूसरे किसी जन्म में पहुंच चुके हैं। कुछ देर बाद जाकर आंखें साफ हुईं और अपने अगल-बगल देखकर उन्हें ज्ञात हुआ कि वह अस्पताल के एक कमरे में एक बेड पर लेटे हुए मरीज हैं। थोड़ी देर बाद एक नर्स उनके पास आई और उसने उसके सीने

को बड़े ही स्नेह से धीरे से एक हाथ से दबाकर कहा—"दादाजी, अब आपको होश आ गया है। अब आप प्रसन्न रहें। दिल पर किसी तरह का बोझ न रखें।"

फो तें: के मन के भीतर काफी सालों से दबी हुई एक असंतुष्टता बाहर उभरकर निकल आई। "अरे मेरी बेटी और पोतों की शक्लें तो दिखा दी होतीं ... "

बेटी और पौत्र बम वर्षा में मारे गए थे। उनकी लाशें और हड्डियां तक मिल नहीं पाई थीं। जब भी बेटी और पौत्रों के दुःखद अंत की कहानी की स्मृति हो आती, उनका दिल बैठने लगता।

"मेरी पत्नी और बच्चे उपि सेडका भाग्य-चक्र से निकल नहीं पाए। उसमें ही उनका अंत हुआ। बड़े ही दया के पात्र हैं। मैं अकेला ही इतनी लंबी उम्र पा सका और आज तक जीवित हूं। लगता है, मैं इस उपि सेडका भाग्य से शायद बच जाऊंगा। इस उम्र में मेरे भाग्य का क्या होगा यह तो समय ही बताएगा। मेरे आश्रम के शुरु के दिनों में जब मैं नया-नया आश्रम में आया था तभी मैंने अपनी आंखों से देखा कि किस तरह एक चीनी बूढ़ा तरण-ताल में एड़ी भर ऊंचे पानी में डूबकर मरा।

युद्ध की समाप्ति पर उसके दामाद ने उनकी सेवा का भार अपने ऊपर आगे के लिए भी ले लिया था। अतः खाने-पीने रहने की उन्हें कोई तकलीफ नहीं हुई। पर अब बेटी नहीं रही थी जिसको लेकर दामाद से रिश्ता था। अब बेटी के देहांत के बाद उन्हें दामाद के यहां रहने में एक प्रकार का संकोच-सा होने लगा। दामाद अभी जवान था और दूसरे विवाह का हकदार था।

दामाद के इन शब्दों ने उसे बड़ी राहत दी थी जब उसने कहा था—"अंकल, मैं दूसरी शादी करने के बाद भी आपको अपने साथ रखूंगा। आपका पूरा ध्यान रखूंगा और भरसक आपकी सेवा करूंगा। आप मेरे माता-पिता के अच्छे मित्रों में से हैं। आप मेरी पत्नी के पिता भी हैं एक प्रकार से आप मेरे पिता ही हैं। मेरे अपने माता-पिता भी अब नहीं रहे। मैं चाहता हूं कि अब आपको ही अपना मां-बाप समझकर आपकी हर संभव सेवा करूं।"

दामाद के शब्दों ने उनके व्याकुल मन को राहत अवश्य दी पर उनके संकोच को दूर नहीं कर पाए। दामाद ने तो कह दिया पर आने वाली दूसरी पत्नी क्या इतनी उदार होगी? बड़ी मुश्किल और अविश्वसनीय बात है। दामाद के साथ नये सास-ससुर भी होंगे। वह तो पुराने और कहने भर को ससुर थे।

इस तरह जब उनके दामाद ने दूसरा विवाह किया, उन्होंने तमांई मुहल्ले के एक बौद्ध आश्रम में रहना शुरू कर दिया। उनकी देखभाल और सेवा करने वाला था उनके भतीजे मजिस्ट्रेट का एक चालीस वर्ष का शिष्य जो पूर्व पटवारी था और मौं भा तौ नाम से जाना जाता था।

मौं भा तौ ऊ तें: टिं के बड़े भतीजे मजिस्ट्रेट ऊ ला तौः के खास शिष्यों में से था। अभी चालीस वर्ष की ही आयु थी और सरकारी कर्मचारी के रूप में और कार्य कर सकने

का अवसर था। लेकिन जापानी राज्यकाल में उसकी पत्नी और बारह साल का बेटा प्लेग से अचानक आगे-पीछे चल बसने के कारण निराश होकर युद्ध की समाप्ति के एक वर्ष बाद जितनी पेंशन मिल सकी उसे लेकर सरकारी नौकरी छोड़कर फोः जी चौंः बौद्ध आश्रम में काप्पिया सेवक के रूप में जीवन व्यतीत करने लगा था।

ऊ तेंः टिं की आयु सत्तर वर्ष पार कर अस्सी वर्ष के लगभग हो चुकी थी। फोंः जाः चौंः आश्रम में मौं भा तौ की सेवा में रहकर पुराने दामाद और भतीजों से मिलने वाले धन से गुजारा चला रहे थे। अपने जमाने में खुद धनवान होने पर भी अब उनकी अपनी कोई वस्तु नहीं थी। यह ऊ तेंः टिं समझाने में असमर्थ थे कि उनकी अपनी दौलत और घर की वस्तुएं किस तरह नष्ट हुई। कहां खो गई, सामान और कीमती वस्तुओं के नुकसान का उन्हें कोई शोक नहीं था। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती, संसार में शारीरिक रूप से बने रहने पर भी, मानसिक रूप से संसार से बाहर निकल रहे थे। इसीलिए उनका अब किसी भी चीज से मोह नहीं रह गया था, जिस घर के बरामदे से गिरकर उसकी पत्नी का देहांत हुआ था, उनके उस अपने घर की भी मरम्मत न करने की वजह से अब टूटी-फूटी हालत में था। आखिर उस टूटे-फूटे घर में कई गैर लोग प्रवेश कर गए और रहने लगे थे। अंतिम दौर के रूप अपने दामाद का घर छोड़ फोंः जीः चौंः बौद्ध आश्रम पहुंचने से पहले जो भी उसकी बचा-खुची जायदाद थी उसे औने पौने दाम बेचकर फोंः जीः चौंः में एक आश्रम बनवा दिय। था।

फो तेंः टिं मौं भा तौ को पहचानते थे जिसने उनकी सेवा उनके अपने बेटे और भतीजे की तरह की थी। बुद्ध जयंती के ढाई हजार साल पूरे होने के दिन मौं भा तौ अचानक बीमार पड़ा और उसका देहांत हो गया। वह भी अकेला रह गया था और उसे कुछ सूझ भी नहीं रहा था। उसे इस बात का एहसास हुआ कि जीवित रहना कितना जटिल है। बौद्ध आचार्य के निर्देश से विद्यार्थी उनके लिए भोजन लाते। उनके छोटे-मोटे काम भी कर जाते। लेकिन वह सब मौं भा तो की तरह ही काम बेहतर ढंग से नहीं करते। बच्चे थे और जैसे तैसे कर जाते थे।

जब ऊ तेंः टिं की उम्र के अस्सी साल पूरे होने जा रहे थे, तभी संसार से उनका मन ऊब गया। वह अब जीवित नहीं रहना चाहते थे। संसार में रहना पड़ रहा था। अब संसारी एक जैसे नहीं रह गये थे। उसमें हम उम्र वाले या हम उम्र के लगभग वाला कोई भी व्यक्ति उन्हें मिल नहीं रहा था। इसीलिए दिन-प्रति-दिन उनका जीवन खाली होता जा रहा था।

लोग कहते हैं कि धर्म कर्म में मन लगाओ। फोः डौ जीः भिक्षु महाराज भी बताते हैं—"भिक्षु आपने शील का ध्यान रखा और लंबी उमर पायी। लंबी आयु के होते हुए भी आप अधिक स्वस्थ हैं। इसलिए धर्म में मन लगाइए। आप बड़े ही भाग्यवान हैं।"

ऊ तेंः टिं का अपना अनुभव उससे यह कहता है कि लंबी आयु, लंबे जीवन का पाना कोई भाग्यवान होने की बात नहीं है। यह संसार उसके योग्य नहीं। यह उसका संसार

नहीं है। उसके अपने जमाने के लोग भी गायब हो चुके हैं। वह अकेले ही अंधों की तरह भटकने के लिए बचे रह गए हैं। कहने के लिए कहते हैं कि धर्म के पथ पर चलो। पर तपस्या करना बड़ा ही कठिन है, जटिल है, यह आसान नहीं है। हाथ में माला लेकर जाप करने, चौकड़ी मारकर बैठने और लंबी सांस खींचने और बाहर करने इत्यादि। वास्तव में तपस्या करने की विधि होने पर भी, वास्तविक ज्ञान का मिलना कठिन है।

ऊ तें: टिं मरने से नहीं डरते थे। वास्तव में मरना चाहते थे और इस आशा में थे कि वह जल्दी मरेंगे। उनका विचार था कि मरकर मुक्ति प्राप्त हो जाएगी। आश्रम में आराम कुर्सी पर आंखें मूंदें बैठकर अपने अतीत में यात्रा करते हुए वह अपना मन बहलाया करते थे। मौत को देखकर भी ज्ञान नहीं मिला था। बुढ़ापा क्या है? बेचारे ऊ तें: टिं यह भी नहीं जानते थे।

कुछ समय बाद एक और घटना घटी। उनका यह भतीजा जो उन्हें सदा धन से सहायता किया करता था अब सचिव बन गया था। अपनी विदेश-यात्रा के दौरान अचानक उसका देहांत हो गया। उनके पुराने दामाद को भी लकवा मार गया था और उन्हें सेशन जज के रूप में पेंशन लेनी पड़ी थी।

ऊ तें: टिं के लिए सहायता की सारी कड़ियां टूट चुकी थीं। कितने समय से ही वह यह सोचता आया था कि दादा-दादी आश्रम में जाकर रहना क्या उचित नहीं होगा? अब उसके जीवन का बचा हुआ मार्ग दादा-दादी आश्रम की ओर संकेत कर रहा था।

अस्सी वर्ष का ऊ तें: टिं दादा-दादी आश्रम के दादा शयन-कक्ष में एक चारपाई पाने में सफल हो गया। अब उसे कोई भी ऊ तें: टिं नाम से नहीं बुलाता था। सब लोग उसे फो तें: कह पुकारते थे। फो तें: जब से शांत और साफ़-सुथरे आश्रम में आया था, तब से उसे यह अनुभव होने लगा था कि वह उस बहुरूपी दुनिया को पीछे छोड़ आया था जिसे वह नहीं चाहता था—उसे जान पड़ा। वह उस सड़ी-गली और पुरानी दुनिया से निकलकर एक नयी दुनिया में पहुंच गया है। हां, यह उसका नया संसार था। पर क्या ऐसा था? नहीं। उसके लिए नया संसार नहीं था। पुराना संसार, पुरानी दुनिया कहना चाहिए था। उसके हम उम्र वालों की दुनिया कही जा सकती थी। तो उसकी पुरानी दुनिया पुराना संसार तो है ही। तब उसे लगा कि यह तो उसकी पुरानी असली दुनिया है।

फो तें: जैसे ही उस आश्रम में पहुंचा सबकी श्रद्धा का पात्र बन गया। क्योंकि वह सबसे अधिक आयु वाले लोगों में से एक था, इसलिए वहां वह श्रद्धा का पात्र था। जब उसकी सेवा आश्रम की सेविकाएं करतीं तो उसे अपनी पत्नी की सेवा, अपनी बेटी की सेवा अचानक ही याद आ जाती। गोरी-गोरी और बड़ी ही आकर्षक रूप वाली सेविका-अध्यापिका यिंयिं को जब कभी वह देखता तो उसे लगता कि वह बिल्कुल जवानी के समय की अपनी पत्नी जैसे लगती है और उसका मन प्रसन्न-सा हो उठता। यिंयिं द्वारा फो तें: फो तें: कहकर पुकारने को भी उसकी पत्नी द्वारा उसे को तें: को तें: कहकर पुकारने के स्वर से मिलते स्वर-सा लगता।

अन्य हम उम्र दादों से बातचीत कर पाने के क्षण और अवसर उसके लिए बड़े मन मोहक एवं प्रिय होते। उसकी शांत मुद्रा, मीठी वाणी और शब्दों के कारण सारे आश्रम के लोग उसे प्यार और आदर करते। मानव जीवन के अनगिनत और अप्रिय दंड भोगने के बाद इस तरह शांत और अनुकूल संसार में पहुंच जाने के कारण फो तेंः के लिए जीवन की हरियाली प्राप्त हो गयी थी।

शांत आश्रम में पहुंचकर अस्सी साल तक तरह-तरह के कष्टों, तकलीफों और दुःखों को सहकर जो ज्ञान उसे नहीं मिला था, अब उसे लगा कि मिल रहा है। जब तक वह ऐसा महसूस नहीं करता—तब तक श्रेष्ठ आलोचना एवं समीक्षा करना असंभव था। जब हर बात का वास्तविक अनुभव होने लगा तब जो पछतावा पहले कभी नहीं हुआ था वह शांत वातावरण में रहकर स्पष्ट दीखने लगा था। उस सब कष्टों की आलोचना करने की शक्ति भी प्राप्त हो रही थी।

आश्रम में उसकी हमउम्र दादे-दादियां एक के बाद एक स्वर्ग पधारते गए। उनकी चारपाइयों पर नये दादे दादियां आ गईं। वह अकेला ही लंबी आयु पाकर बचा रह गया था। दस साल बाद आश्रम पहुंचकर अब वो दादा-दादियां नहीं रही थीं जिन्हें उसने अपने पहले आगमन के समय देखा था। उससे दस वर्ष बड़े फोः माडिं भी सौ साल की उम्र पूरी करने के बाद स्वर्ग सिधार गए थे।

अपनी चारपाई के बगल वाली चारपाई पर एक ओर मुड़कर सोते हुए स्वर्ग सिधार जाने वाले फोः माडिं की आकृति को फो तेंः अपनी आंखों में देख रहा था। धीरे-धीरे वह आकृति अदृश्य हो गई।

''फो तेंः फो तेंः सोये हुए हो। जागो, उठ जाओ दोपहर के भोजन का समय हो गया है।

सेविका यिंयिं द्वारा पुकारकर जगाने की आवाज को सुनने के बाद फो तेंः ने आंखें खोलीं और दीवार के ऊपर वाला रोशनदान देखने लगे। □

मूल बर्मी से चंद्रप्रकाश प्रभाकर द्वारा अनूदित

टैटोः बर्मा के शीर्षस्थ कथाकार। रचनाकार के साथ-साथ साहित्य समालोचक, अनुवादक व बर्मी सूचना माध्यम के वरिष्ठ पदाधिकारी।

उपन्यास-अंश

जंगल में बांसुरी

चंद्रकांता

प्रियंवद ने कहा था कि सिद्धार्थ ने मुझे पत्र लिखा था। सिद्धार्थ ने भी उसके पत्र में इस बात का जिक्र किया था। उसमें क्या लिखा था और वह पत्र कहां गया? मैं जानने को बेचैन हो उठी। क्या वह पत्र घर आया और मुझे भेजा नहीं गया? लेकिन ऐसा कौन और क्यों करेगा? मन में शंकायें सिर उठाने लगीं। घर में किसी को दूसरे के पत्र पढ़ने की आदत नहीं है, तब?

सुबह होते ही मैंने प्रीति की किताबें उलट-पलट कर देखीं। बप्पा के कागज, और आलमारी की दराजें छान मारीं। मंदा के आफिस जाने ही प्रद्युम्न की मेज के ड्राअर खोल कर देखने लगी। शायद पत्र रख कर रिडायरेक्ट करना भूल गए। शायद अभी भी मेरे हाथ वह अनमोल खजाना लग जाए। तभी प्रद्युम्न की फाईल के बीच वह अधखुला लिफाफा मुझे मिल गया था। दिल जैसे उसे देखकर उछल पड़ा। हाथो में अतिरिक्त फुर्ती और जेहन में अनाम गुस्सा भर आया। खुले हुए पत्र को गोद में लिए न जाने कितनी देर बैठी रही। मेरा पत्र किसने खोला? इस बात को लेकर माथा भन्नाता रहा। मंदा ऐसा नहीं कर सकती। तो क्या यह प्रद्युम्न का काम है? उसे शायद पहले से ही कुछ शक हो गया था। मेरा घर से देर-सबेर आना जाना घर भर के लिए आश्चर्य और उत्सुकता की बात जो थी। यह दीगर बात है कि मुंह खोलकर किसी ने मुझसे सवाल नहीं पूछे। घर की बड़ी दीदी जो थी। मैं प्रद्युम्न से इस तरह के छोटे काम की उम्मीद कर ही नहीं सकती थी। हमेशा चुप रह कर अपने काम से काम रखने वाला मेरा भाई प्रद्युम्न। कभी बचपन में भी कोई गलत काम करके बड़ों की डांटें खाई हो, याद नहीं। लेकिन मेरी नजरों में उसने पत्र खोल कर और मुझ तक न पहुंचा कर अक्षम्य अपराध किया था। मेरे और सिद्धार्थ के बीच अविश्वास की दरार डालने का घृणित काम। मैं क्षोभ से भर उठी।

उस वक्त घर के ज्यादा सदस्य अपने-अपने काम से घर से बाहर चले गए थे। यह अच्छा हुआ था। नहीं तो आवेश में आकर मैं अपना संतुलन खो बैठती। मेरे अपने लोग मेरे मन की दुनिया से बाहर थे। मेरी कोई चीख, कोई पुकार उन तक कभी नहीं पहुंची। मेरे भीतर कितने पाप भरे फोड़े पक रहे थे। उनकी टीस का किसी को कोई अंदाजा नहीं था। प्रद्युम्न उस पत्र की मेरे लिए अहमियत को क्या समझ सकता था, जिसकी प्रतीक्षा में मेरे दिन सालों लंबे खिंच गए थे?

बहरहाल! अब प्रद्युम्न मेरे और सिद्धार्थ के बारे में जान गया था। हालांकि अपने

व्यवहार से उसने ऐसा कोई आभास नहीं दिया था। सचमुच अब मेरा भाई काफी समझदार और व्यावहारिक बन गया था। उस दिन लगा कि मैं अपने मां-जायों को भी समझने में चूक गई। अपमान, दुःख और क्रोध से जख्मी सिंहनी सी मैं एक कमरे से दूसरे कमरे में आवाजाही करती रही। खाना भी नहीं खाया गया। मन हो रहा था कि एक एक से पूछूं कि मेरे साथ तुमने ऐसा क्यों किया? मेरे निजी जीवन में दखलंदाजी करने वाले तुम कौन होते हो? मैं जो हमेशा तुम लोगों की सुख-सुविधा के लिए होम होती रही, मेरे छोटे से सुख में भी तुमने सेंध मारी? तुम लोग हद दर्जे के स्वार्थी और क्रूर हो। मैं तुम्हें माफ नहीं कर सकती।

लेकिन गुस्से से क्या होने वाला था? अब प्रद्युम्न जान गया है। जरूर मंदा भा जान गई होगी। ठीक है, जानने दो। मेरे भीतर की औरत जिंदा है, इन्हें भी मालूम होना चाहिए। मैंने मन को अपनी दलीलों से समझाया, शांत किया तो सिद्धार्थ का पत्र पढ़ने बैठ गई। महीनों पहले लिखा गया पत्र। खूब मन से लिखा हुआ पत्र। उस पत्र से सिद्धार्थ की आत्मीयता, उसकी घुमक्कड़ी का शौक और उसके साथ-साथ चलती कुनी का अहसास झर रहा था। उसको भूलना मुमकिन होगा क्या कभी? पत्र उसने बगदाद से लिखा था। उसमें ऐतिहासिक जानकारियां थीं, भवन निर्माण कला और उसकी भव्यता का अभिभूत करने वाला वर्णन था। पत्र के आरंभ में ही लिखा था "मालूम है कुना, 762 ईस्वी में अब्बासिद खलीफा अबू जाफर अल मंसूर ने टिगरिस नदी के पश्चिम में इस सुंदर शहर बगदाद का निर्माण किया।" उसके पत्र में बगदाद के म्यूजियम में सुरक्षित प्रागैतिहासिक समय के सुमेरियन अकादियन, बेबीलोनियन आदि सभ्यताओं के अवशेषों का वर्णन था। मालूम है कुना कहते हैं ईसा से दो हजार वर्ष पहले बेबीलोनियन युग में भवन निर्माण कला, साहित्य, विज्ञान, गणित आदि की उन्नति हुई। बेबीलोनियन साम्राज्य के ध्वस्त होने पर विदेशियों ने ईराक पर अधिकार जमाया। ग्रीकों ने यहां की विरासत से लाभ उठाया ...

पत्र पढ़ते लगा मैं उसके साथ हूं और वह एक गाइड की तरह मुझे समझा रहा है। "म्यूजियम का भवन बगदाद के विशिष्ट आर्किटेकचर का खूबसूरत नमूना है ... ।"

उसने अपने ईराकी दोस्त का जिक्र किया था जो अपने देश की बड़ी डींगें हांकता था। "हमारा ईराक दुनिया का प्राचीनतम सभ्यता का देश है। वहां बेबीलोन है, जारमो गांव है, पाषाण युग का पहला गांव, जहां मनुष्य ने खेती करना सीखा। हमारा देश 'अली बाबा चालीस चोर' और 'सिंदबाद द सेलर' की कहानियों का देश है। बसरा शहर से ही सिंदबाद ने दुनिया की यात्रा शुरू की थी ... ।

और भी बहुत कुछ कहा था। भला इतना कुछ सुनने के बाद सिद्धार्थ उस देश को देखे बिना रह सकता था?

सिद्धार्थ के पत्र के कुछ हिस्से जेहन में लिखे रह गए हैं, अक्षर-अक्षर। यह शायद उसकी आत्मीयता ही है जो उन्हें भूलने नहीं देती।

— कुना! जहां बसरा में सुच्चे मोती मिलते हैं। मैंने तुम्हारे लिए थोड़े मोती लिए

हैं। क्या करूं, जहां-जहां जाता हूं, साथ-साथ तुम भी चलती हो। कैसे मेरे दिल और दिमाग पर कब्जा कर लिया है तुमने। जहां बगदाद के पश्चिम में, चौरासी किलोमीटर की दूरी पर 'हब्बानिया विलेज' है। झील के किनारे बसा यह टूरिस्ट कांप्लेक्स और हब्बानिया झील का नीला पानी, बेहद सुंदर है। तुम्हारे बगैर अकेले-अकेले यहां 'देवदास' सा घूम रहा हूं। तुम कहां हो इस वक्त? 'अब्बू नुवास स्ट्रीट' में टहलते मुझे तुम बहुत याद आई हो कुना। तुम्हारे यहां देवी पूजा में जैसे 'खड़ंगा' और 'भेकटा' मछली जलती आग के अंगारों में गाड़ दी जाती है और भुनी जाने पर प्रसाद समझ कर उसका भोग लगाते हैं, कुछ-कुछ वैसे ही तरीके से यहां नदी किनारे 'मजगुफ मछली' आग में भूनी जाती है। बगदादी तरीके से मसाला मिलाकर लोग उसे शौक से खाते हैं। तुम्हें मछली बहुत पसंद है न? भला बताओ तो उस वक्त तुम्हारी याद कैसे न आती?"

बहुत लंबा पत्र लिखा था सिद्धार्थ ने। एक-एक जगह का जीवंत वर्णन। ईराक के भवन, पैलेस, श्रायन, 'अगरगोफ जिगुरत' में लाईम स्टोन से बने भवन, 'किरकुक' के पुराने कैसल, खान मुरजान का कलात्मक भवन, दीवारें वाच टॉवरस, अननोन सोलजर मानूमेंट' आदि की कलात्मकता से वह बेहद प्रभावित हुआ था। 'कदीसिया पैनोरामा' में कदीसिया की लड़ाई के दृश्य उसे इतने जीवंत लगे थे कि बार-बार आंखें मलकर उसने खुद को विश्वास दिलाया कि वह मात्र एक कलात्मक पेंटिंग देख रहा है, युद्ध के मैदान में खड़ा नहीं है ... ।

सिद्धार्थ का पत्र पढ़ते हुए मैंने भी उसके साथ ईराक के करीब दस हजार दर्शनीय स्थल देखे थे, जिनमें कई जगह पाषाण युग के अवशेष भी थे। तेल अल सुआन की खुदाई में मिले पत्थरों पर अंकित चित्रकारी के आठ हजार वर्ष पुराने नमूने भी देखे और देखी थी सिद्धार्थ के मन में गहरी पैठी अपनी तस्वीर। सिद्धार्थ ने लिखा था कि वह जल्दी लौट आएगा।

लेकिन सिद्धार्थ को लौटने में सचमुच देर हो गई थी। उसने जो सोचा था नहीं हुआ और जो नहीं सोचा था वह होकर रह गया था। हालात बदल गए थे। और हमारी नियति भी।

अब खुद को बहलाने की कोई गुंजाइश नहीं थी। मेरी नाव किनारे पहुंची ही थी कि किनारा घसक कर नदी में आ गिरा था। मैं लहरों पर डूबती-उतराती बहती रही काफी देर तक। भयंकर बाढ़ में नितांत अकेली। क्या डूब कर खो जाना ही मेरी नियति है? उस वक्त ऐसा ही लगा था। वह रात प्रलय की रात थी मेरे लिए। सब कुछ खत्म होकर निःशेष होने की रात। चारों ओर पानी की ऊंची उछाल मारती प्राचीरें थीं और मैं किनारे पड़े पत्थर की तरह थपेड़े सहने को अभिशप्त थी। वक्त के सागर का कठोर और बेदर्द प्रहार।

अगले दिन मैंने बोउ से कहा कि वह और बप्पा मेरे साथ चलेंगे। वहीं इलाज होगा। उधर भी अच्छे डॉक्टर हैं। मेरे पास ज्यादा छुट्टियां नहीं थीं और उन्हें छोड़कर जाने से पीछे उनकी चिंता लगी रहती। छोटी टुटुल को भी साथ ले जाने का विचार था। कुछ दिन की छुट्टियां लेने से पढ़ाई में कोई हर्जा नहीं होगा ... ।

मां हतबुद्धि सी देखती रही। पूछा नहीं कि तू तो कल ही हमारे साथ कुछ और दिन बिताने की बात कर रही थी, आज अचानक यह नयी बात क्यों कर रही है?

— तुम अपनी तैयारी करो मां! हम कल ही चले जायेंगे। मां को आदेश सा देकर मैं प्रभा मौसी से मिलने चली गई। नहीं, अब किसी तरह के बहाने नहीं सुनने हैं मुझे।

मौसी उम्र में मां के बराबर होते हुए भी मेरी सहेली जैसे राजदार बन गई थी। उसकी ममता में कोई झोल नहीं था। मुझे अपने कमरे में बिठा कर उसने ढेर सी बातें पूछीं। कहीं। यह भी कहा कि, "तेरी उम्र बड़ी लंबी है, मैं तुझे ही याद कर रहा थी।"

— लंबी उम्र! मौसी का आशीष मेरे भीतर जख्म की तरह टीस गया—क्या करूं लंबी उम्र लेकर मौसी? पहले ही क्या कम दागदार हुई है मेरी उम्र?

— शुभ-शुभ बोल झिओ, आज कैसी बातें कर रही है? सब कुशल मंगल तो है, घर-बाहर?

— हां मौसी, सब ठीक है। बस यूं ही मन कुछ बिखरा बिखरा सा है।

मौसी ने बाल सहलाये। पीठ पर तसल्ली देता हाथ फेरा। मौन सांत्वना की छुअन मुझे छू कर भिगो गई। मौसी जल्दी ही काम की बात पर आ गई।

— कुनी, तुमसे कुछ जरूरी बात करनी है। ध्यान से सुन और सोच कर जवाब दे। जल्दबाजी में हां-नां कहने की दरकार नहीं ...

— कहो मौसी।

मेरा आश्वासन पाकर उसने अनिरूद्ध की बात कही थी। अनिरूद्ध प्रभा मौसी की सहेली का लड़का। डॉ. अनिरुद्ध हार्ट सर्जन। जिसकी प्रशंसा मौसी के मुंह से ही नहीं, औरों की जुबान से भी काफी सुन चुकी थी। अचानक छः मास पहले उसकी पत्नी का देहांत हो गया था। दो बच्चे हैं—बारह साल का परीक्षित और छः साल की तन्वी। प्रभा मौसी ने भीगी आंखों से बच्चों के दुर्भाग्य का जिक्र किया, उनके पिता की परेशानी बयान की। मां के बिना तमाम सुख साज बच्चों को बहला नहीं पाते। नौकर, दाई सब हैं, पर प्यार से मनाकर खिलाने वाली मां नहीं। अनिरूद्ध का तो बुरा हाल है। वह बच्चों को देखे या अपने हज़ारों हजार मरीजों ... को? खुद भी क्या कम दुःखी है? रची बसी गृहस्थी उजड़ने का दुःख आदमी को भीतर-बाहर से असहाय कर देता है कुनी।

यानी डॉ. अनिरूद्ध को एक अदद पत्नी की जरूरत है। मौसी ने ज्यादा भूमिका न बांधकर मुझसे सीधे प्रश्न किया—"कुनी। मैं चाहती हूं तुम अनिरूद्ध से मिलो। उसे पसंद करो और ठीक समझो तो बाद में बच्चों से भी मिलवा दूंगी। पर पहले खुद सोच विचार करो, कि तुम्हें यह रिश्ता मंजूर होगा या नहीं।"

प्रभा मौसी ने अनिरूद्ध की प्रशंसा में कई बातें कहीं। यह भी कहा कि चालीस के आसपास का आदमी बूढ़ा नहीं होता। प्रभा मौसी को उसकी चिंता थी और मन में यह विश्वास भी था कि मैं ही उसकी और उसके बच्चों की खोई हुई खुशियां लौटा सकती हूं।

मैं मौसी की चिंता जानती थी। उसने हमेशा मुझे बेटी की तरह समझा है और वह

कोई भी बेहूदा प्रस्ताव मेरे सामने नहीं रख सकती। पर मैं अपने मन का क्या करती, जो शादी के नाम से ही बिदकने लगता था?

— मौसी। मुझसे क्या किसी का घर बसाया जाएगा? मेरे मन में तो शादी की कोई इच्छा-आकांक्षा ही नहीं रही।

मौसी कुछ सोच कर बोली थी—"तू तो खूब पढ़ी लिखी लड़की है झिओ। जीवन तो अंधेरे उजाले की धूप छांही कुंज है, जानती है। फिर हिम्मत हारने से कैसे चलेगा? कितना कुछ तो हम अनिच्छा से भी निभाते हैं, पर शादी ब्याह तो एक जरूरी फैसला है, इसे मैं तुम्हें अनिच्छा से करने को नहीं कहूंगी। इतना चाहती हूं कि तुम एक बार अनिरूद्ध से मिलो। वह बहुत प्यारा इंसान है, तुझे पसंद आ जाएगा।"

मौसी ने आग्रह किया कि संबलपुर जाना जरूरी है तो भी पहले एक बार अनिरूद्ध से मिल लो।

मौसी का मन रखने के लिए मैं अनिरूद्ध से मिली थी। डॉ. अनिरूद्ध दास। सुना बहुत कुछ था उसके बारे में, देखा तो एक बार विश्वास ही न आया कि यह सहज सरल व्यक्तित्व वाला युवक सा दिखता व्यक्ति शहर का नामी हार्ट सर्जन हो सकता है। प्रभा मौसी बना-बना कर उसे घर की बनी चीजें खिला रही थीं और वह बिना ना नुकर किए थोड़ा-थोड़ा चख कर उसका मन रख रहा था। उसके इर्द-गिर्द बड़प्पन का ऐसा कोई बड़बोला वैशिष्ट्य नहीं था, जिससे सामने वाला बिना वजह खुद को बौना महसूस करता। यही बात शायद मुझे अनिरूद्ध में अच्छी लगी। पहली भेंट का पहला प्रभाव, कि यह आदमी कुछ भी हो, बच्चे जैसा निष्कलुष मन रखता है।

अनिरूद्ध के बच्चे भी साथ आए थे। वह उन्हें बीच-बीच में 'यह खाओ' 'यह मत खाओ' की हिदायतें भी देता जा रहा था। मौसी ने अनिरूद्ध से मेरा परिचय कराते कहा था, "यह कुनी है, मेरी ही बेटी समझो। संबलपुर कालेज में पढ़ाती है। खूब किताबें पढ़ती रहती है। आजकल आदिवासियों की समस्या को लेकर उलझी है ..."

— मैं अनिरूद्ध हूं, वह मौसी को परिचय देने का मौका दिए बिना ही बोल पड़ा था।

— ना, ना, डॉ. अनिरूद्ध दास, हार्ट स्पेशलिस्ट ...।

देवदास चहक रहा था।

— जानती हूं। मौसी ने बताया है। मैंने सहज होने की कोशिश की थी। घर से यही सोचकर चली थी कि कुछ औपचारिक बातें ही करनी हैं। मैंने बच्चों से भी कुछ छिटपुट प्रश्न किए। परीक्षित थोड़ा गंभीर और अनुत्सुक सा लगा। उसके उदास चेहरे पर बड़ी-बड़ी खोजती सी आंखों में दुःख जम सा गया। मन में करूणा सी हो आई। प्रभा मौसी ने कहा था कि बेटा मां को भूल नहीं पा रहा है। दिन ब दिन पीला पड़ता जा रहा है। पिता बेचारा क्या कर सकता है? दुनिया भर की नियामतें पांवों में डाल सकता है पर मां कहां से ले आएगा? तन्वी तो अभी छोटी है। खेल-कूद में लगी रहती है। बड़ी होने पर वह भी जान जाएगी कि उसने क्या खोया है ... मौसी की आंखें भर आई थीं, "क्या-क्या

सपने संजोए थे इनकी मां ने इनके लिए ... ।"

— मौसी! मैंने न जाने क्यों मौसी को अधबीच ही टोक दिया था। बच्चों के सामने उनकी मां के बारे में कौंच-कौंच कर करूणा जगाना मुझे अच्छा नहीं लगा। बिटिया टुकुर-टुकुर मेरी ओर ताके जा रही थी और परीक्षित के होंठ घुटे-घुटे आवेश से थरथराने लगे थे। मैं भी तो पत्थर नहीं थी।

यों अनिरूद्ध को पत्नी मिलने में कोई दिक्कत नहीं होती। पद, प्रतिष्ठा धन-दौलत उसके पास थे ही। देखने में भी पैंतीस-छत्तीस से ज्यादा नहीं लगता। दरमियानी कद के अनिरूद्ध के गोरे चेहरे पर पतली मूंछों की रेख और तराशे होंठों पर सौम्य सी लगती मुस्कुराहट बड़ी भली लग रही थी। आंखों में गहरी समझ और संवेदना। क्या यही उसके सफल और लोगों के चहेता डॉक्टर होने का प्रमाण नहीं था? मरीज जरूर इसे देखकर आश्वस्त होते होंगे। मैंने पहली ही मुलाकात में इतना सब सोचा और मुझे अनिरूद्ध भला इन्सान लगा।

अनिरूद्ध की मुझसे कही पहली बात याद आ रही है। वह कुछ सकुचाती-सी मुस्कुराहट के साथ बोला था, "मौसी कमाल की स्त्री है।"

मैंने नजर भर उसे देखा पर कहा कुछ नहीं था। मुझे चुप देखकर वह सीधा मुझसे मुखातिब हुआ था—"आपको भी किसी बहाने से यहां बुलाया क्या?"—नहीं। मौसी मुझसे सीधी बात करती है। मैंने बिना हिचकिचाहट के कहा था। अच्छा है न? बुरा लगे या भला, आदमी दो टूक जवाब दे। लेकिन क्या आप समझती हैं कि हर बात का आदमी बिना सोचे समझे फैसला दे सकता है? यानी कि बात के हर पहलू पर सोचने के लिए थोड़ा वक्त तो चाहिए ... "

मैंने सीधे उसकी आंखों में देखा। शायद इसलिए कि अब मैं छुई मुई उम्र पार कर गई थी। उसने पल भर आंखें मिलाई फिर थोड़ा झेंप कर कहा—"आई मीन, हर आदमी को अधिकार है कि कोई फैसला लेने से पहले ठीक से विचार करे, जिससे कि बाद में उसे अपने फैसले पर पछतावा न हो ... "

"आप अपने बारे में बात कर रहे हैं या मेरे बारे में?" मैंने उसे टटोला था।

"अपने से ज्यादा आपके बारे में।" इस बार उसके लहजे ने प्रभावित किया था। उसमें अजीब सी ईमानदारी थी कि हर बात पर सहज ही विश्वास होने लगता था।

"धन्यवाद।" मैंने आभार माना था और उसकी उलझन कम करने की गरज से कुछ सामान्य बातें की थीं। हम मौसी के बगीचे में देर तक घूमे और पिछले जीवन के बारे में छिटपुट बातें पूछी थी। उसने ज्यादा सवाल नहीं किए। शायद मौसी मेरे बारे में काफी जानकारी पहले ही दे चुकी थी। अनिरूद्ध के भीतर गैरजरूरी गांठें नहीं थीं। मैंने उसके खुलते ही पूछा था, उसके निजी जीवन से संबंधित प्रश्न।

— आपको अपने लिए साथी चाहिए या मात्र बच्चों के लिए एक मां और घर संभालने के लिए गृहिणी?

इस सीधे प्रश्न पर अनिरूद्ध थोड़ा अचकचा सा गया था। कुछ रूक कर बोला, "शायद ऐसी महिला, जो तीनों तरह की मांगों को पूरा कर सके। थोड़ा मुश्किल तो है। पर प्रभा मौसी ने मुझे आश्वस्त सा कर दिया है। मालूम नहीं क्यों, पर आपको देखकर मुझे उनकी बात पर भरोसा सा होने लगा है ... ।"

मैं चुप रही तो उसने जोड़ दिया—"सॉरी! मैं अपनी ही हांके जा रहा हूं। आपकी राय तो पूछी ही नहीं ... मैं शायद ज्यादती कर रहा हूं ...

— नहीं, नहीं ऐसा कुछ नहीं। मैं सोच रही थी कि आपने मुझे जाने बिना ही मौसी की बातों पर विश्वास कैसे कर लिया? इतना सहज विश्वासी होने से आदमी धोखा खा सकता है।

— कभी-कभी तो आदमी जान कर भी धोखा खा लेता है। पर मैं चीजों को इस नेगेटिव एप्रोच से नहीं देखता। मैं मानता हूं कि सामने वाले व्यक्ति में अच्छाई ढूंढ़ों तो जरूर कुछ न कुछ अच्छा मिल जाता है ...

सोचा था कहूं कि तुम्हारा आशावाद काबिले तारीफ है पर जीवन ज्यादा जटिल है। फिर मैं तो तुम्हारे लिए बिल्कुल अनजान लड़की हूं। मेरे बारे में तुम कुछ नहीं जानते ...

लेकिन नहीं, कुछ नहीं कहा। भलमनसाहत से मुस्करा कर रह गई। अनिरूद्ध बातों का जादूगर नहीं है। उसकी जादूगरी उसके पेशे तक ही सीमित है। बात खींचने से वह खामखाह उलझन में पड़ जाता है।

उस दिन काफी देर तक हम बातें करते रहे। दो दोस्तों की तरह। वह अपनी पत्नी की बीमारी के बारे में बताता रहा। उसे गर्भाशय का कैंसर हो गया था। डाक्टर होकर भी वह उसे बचा नहीं सका—इस बात का अफसोस मन में है। काफी अग्रिम स्टेज पर मालूम पड़ा था। तब तक देर हो चुकी थी। अनिरूद्ध अपनी पत्नी और बच्चों के लिए खुद को दोषी ठहराता रहा, "मैं अपने मरीजों की तकलीफों से उलझा, उनके चेहरों पर हंसी खोजता रहा। कोई रोगी नयी जिंदगी पाता तो मेरा सिर ऊंचा हो जाता। लेकिन हाथ भर की दूरी पर बैठी पत्नी का चेहरा मैंने नहीं पढ़ा। वह भीतर ही भीतर घुलती रही। मुझसे कुछ भी न कहा। यह तो उसकी ज्यादती थी न? पत्नी होने के नाते वह मुझे अपनी तकलीफ बता सकती थी ... ।"

अनिरूद्ध के मन पर पत्नी के दुःख ने कितनी गहरी चोट की, यह तो वही जान सकता है, पर उस वक्त मैंने उस चोट का कुछ अंदाजा तो कर ही लिया। मैंने उसे अपराध बोध से उबारना चाहा, "डाक्टरों के हाथ में शफा तो होती है, शायद संजीवनी भी। पर मौत के आगे कोई संजीवनी भी काम नहीं करती। आप व्यर्थ ही खुद को दोषी मान कर दुःखी होते हैं ... ।"

पता नहीं कैसे, पर यह सच है कि घंटे भर में ही हम अच्छे दोस्त बन गए। लगा, हम एक दूसरे को समझ सकते हैं।

प्रभा मौसी ने मुझे कसम दी कि संबलपुर जाने का प्रोग्राम फिलहाल रद्द कर दूं।

वह मां-बाप से बात करना चाहती थी। मेरी तरफ से लगभग निश्चिंत हो गई थी। तभी शायद मुझसे एक ही बात पूछी—

— कैसा लगा अनिरूद्ध कुनी?,

— भला आदमी है मौसी। मैं बोलते-बोलते मुस्कराई।

— खूब भला झिओ। सोना है हमारा अनि। भगवान मंगल करु।''

मौसी का उत्साह चरम पर था। मुझे संबलपुर जाने का कार्यक्रम फिलहाल रद्द ही करना पड़ा।

अगला सप्ताह मेरे लिए घटनाओं, आश्चर्यों, हादसों और उलझनों का सप्ताह था। आज सोचती हूं कि मौसी के आग्रह पर सप्ताह भर न रूकती तो आज भी संबलपुर के कालेज में पढ़ाते, बाकी वक्त आदिवासियों के बीच रहते, जीवन गुजर रहा होता। पर मेरी जिंदगी को नया मोड़ लेना था, एक और दायित्व भरा मोड़। इसका निर्णय मैंने खुद ही लिया। मौसी माध्यम बनकर आ गई। हां या ना मेरे ही हाथ में था। और मैंने दृढ़ता और शायद जिद के साथ यह निर्णय लिया कि मैं अनिरूद्ध के साथ विवाह करूंगी। इस निर्णय में दो बातों ने मदद की। एक सिद्धार्थ के पत्र ने और दूसरे प्रद्युम्न-दिवाकर के विरोधी रवैये ने।

अनिरूद्ध से मुलाकात के तीसरे दिन सिद्धार्थ का पत्र आ गया। एक बार फिर विश्वास ही नहीं आया कि मैं अभी भी उसकी यादों में जिंदा हूं। पर शायद यादें, वह भी यत्न से संजोयी-पाली यादें मरती नहीं। मन के किसी कोने-अंतरें में हमेशा सुरक्षित रहती हैं, मरते दम तक।

प्रद्युम्न ने खुद मुस्कराकर वह पत्र मुझे थमाया। प्रद्युम्न विदेशी पत्र देखकर क्यों मुस्कराया, यह पूछने की अब जरूरत नहीं रही थी। मैं न जाने क्यों कट कर रह गई। यह जानने की कोशिश भी न की कि प्रद्युम्न की मुस्कराहट सहज-सौहार्द्रपूर्ण मुस्कराहट हो सकती है। मैंने एक तीखा सा प्रश्न किया, "क्यों प्रद्युम्न, इस पत्र को खोल कर देखोगे नहीं?"

उसने सिर झुकाया और बिना कुछ कहे कमरे से बाहर हो गया। पत्र सिद्धार्थ ने वाशिंगटन से लिखा था। यह पत्र प्रियंवद को लिखे पत्र के बाद लिखा गया था। पत्र कुछ इस प्रकार था—"मेरी कुना, तुम्हें अपना कहने का अधिकार मैं शायद खो चुका हूं। पर मेरे मन ने जो अधिकार लिया वह सहज छूटने वाला तो नहीं है। मेरी कहानी प्रियंवद से मालूम पड़ गई होगी। अचानक हादसों की गिरफ्त में फंसने के बावजूद मैंने कुछ निर्णय किए हैं जो शायद उस स्थिति में सही ही थे जिसमें लिए गए। मैं अपनी तरफ से कोई सफाई पेश नहीं करुंगा, क्योंकि मैं जानता हूं कि जिस हद तक हम एक दूसरे को अपना चुके थे, वहां एक दूसरे की मनः स्थिति को समझना मुश्किल नहीं है। तुमसे मिलने के पल-पल गिनता मैं तुमसे दूर हो गया, लेकिन मन से नहीं कुना। जो थोड़ा वक्त हमने साथ बिताया वह हमारी पूंजी है। जब हालात से घिरकर आदमी अकेल पड़ जाता है तब यादों की जमा पूंजी बड़ा सहारा देती है लेकिन जिंदगी ज्यादा ठोस है कुना, महज यादों को ही जीकर नहीं गुजरती। वक्त को दोष देकर मैं अपनी बेबसी का स्यापा करने में विश्वास

नहीं करता। मैंने नासिरा के साथ शादी की और वाशिंगटन चला आया। यहां से आगे कहां जाऊंगा, अभी कुछ तय नहीं है, शायद अभी कुछ देर भटकना पड़े। अभी पूरी तरह से नासिरा के हाथों में ही हूं। एक्सीडेंट के बाद वह देवदूत बनकर मेरी जिंदगी में आ गई। उसकी सेवा और स्नेह ने मुझे अपने सुख और स्वार्थ से बाहर देखने को मजबूर कर दिया। हमारे पास हमारे लोग हैं, दूर ही सही, आश्वासन तो है। उसके पास नन्हें गुल के सिवा कोई नहीं। तभी शायद वह पूरी लगन से मेरे करीब खिंच आई। यहां मैंने अनचाहे तुम्हारे विश्वास को चोट पहुंचाई है जिसके लिए अपराध बोध से घिर आया हूं। जब हम एक के साथ न्याय करना चाहते हैं तो दूसरे के साथ न चाहते हुए भी अन्याय हो ही जाता है। तुम दो शब्दों में लिख दो कि तुमने मुझे माफ कर दिया तो मैं शेष बची जिंदगी इस अपराध बोध से मुक्त होकर जी लूंगा। मैं अपनों से कट कर जिंदगी का खूबसूरत दांव हार बैठा कुनी। ऐसे में पूरी दुनिया मेरे लिए अंधाकुंआ हो गई। इस अंधे कुंए से नासिरा के दुःख ने ही निकाला, उसके शारीरिक आकर्षण ने नहीं। मन तो तुम्हारे पास गिरवी है। मेरे पास वह है ही कहां, जो किसी को दे दूं? शायद भावुक हो रहा हूं। अब पहले से ठीक हूं। नकली पैर लगाया। जल्दी क्रचेज छोड़ कर अपने सहारे चल पाऊंगा। थोड़ा सा लंगड़ाता हूं अभी, पर ठीक हो जाऊंगा। नासिरा की मदद से कुछ काम ढूंढ़ रहा हूं। हार कर नहीं बैठूंगा। कभी वक्त ने फुरसत दी तो तुम्हारे साथ पुरी तट पर अपने और तुम्हारे पैरों के निशान ढूंढ़ने जरूर आऊंगा। वह वहीं होंगे न? हम तो न धार्मिक व्यक्ति हैं और न कभी इतिहास ही हो गए हैं। साधारण लोग, हालात के शिकार, क्या हमारे निशान वहां मौजूद होंगे? मेरा इरादा तो है आगे तुम्हारे पास आने का, पर कल के फैसले शायद हमारे हाथ में नहीं होते। यहां आकर तो कल के बारे में फैसलाकुन शब्दों में बात करना नादानी लगती है, खासकर जिन हालात से गुजर कर आया हूं।

कुना! मैंने एक बार तुमसे कहा था, केदार गौरी के प्रागंण में, कि केदार और गौरी नाम के प्रेमी-प्रेमिका कई नामों-रूपों में कई जन्मों में जीते हैं। प्यार करने वाले कभी अलग नहीं होते। यह विश्वास मैं आज भी मन और जेहन में संजोये बैठा हूं, क्योंकि देह की सीमा मन के जुड़ाव के आगे नहीं आती। हमारे बनाए कोणार्क की मूर्तियां मात्र प्रस्तर खंड नहीं हैं कि कोई 'काला पहाड़' उन्हें खंडित कर दे। मन पर खुदे आलेख तो समय भी नहीं मिटा पाता। हम उसे सामाजिक स्वीकृति न दे सके, इसके लिए दुःख मत करना। भीतर और बाहर की दुनिया में बंट कर जीना हर व्यक्ति की मजबूरी है। मैं चाहता हूं कि तुम भी कोई अच्छा साथी चुन कर अकेलेपन की पीड़ा से मुक्त हो जाओ। दो जने साथ मिल कर चलें तो जिंदगी का सफर आसान हो जाता है कुना। मन के प्यार के साथ जीना कितनों के भाग्य में होता है? लेकिन जीवन, हर हाल में भगवान का दिया सबसे अनूठा उपहार है, इसे दूसरे के सुख-दुख से जोड़ कर अर्थवान बनाने में अपना एक अभूतपूर्व आनंद है।

अपने साथ हुए हादसों ने मुझे जीने की नई दृष्टि दी है कुना! सच क्या है और झूठ क्या? इसे जानने का दावा नहीं करता, सो तुम्हें कोई रास्ता बताने की स्थिति में नहीं

हूं। मुझे तुम्हारी समझ पर पूरा भरोसा है। तुम अपने में सक्षम हो, पर कभी-कभी अपनी क्षमताओं को पहचानने में चूक जाती हो। एक बार बात करते तुमने मुझसे जिद्दू कृष्णमूर्ति का एक वाक्य कहा था, जिसे मैंने अपनी डायरी में नोट कर लिया है। आज वही वाक्य तुम्हें याद दिलाते पत्र बंद करता हूं—"सत्य की दुनिया का कोई मार्ग नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने सत्य को स्वयं ही खोजना होता है।"

हम इस खोज में थकेंगे नहीं, इसी उम्मीद के साथ—

तुम्हारा सिद्धार्थ

सिद्धार्थ का पत्र दो बार पढ़ा। मेरा सत्य क्या है? क्या अतीत का स्यापा पढ़ते हुए जीना? या 'तपस्विनी' लड़की का बिल्ला लगाकर दूसरों के सुधार और समस्याओं से जूझने का दर्प लिए, आत्ममुग्धता और वाहवाही के माहौल में दिन गुजारना और अकेले में भीतर की अधूरी आकांक्षाओं का रोना रोते जिंदगी का मातम मनाना।

सिद्धार्थ का हंसा हुआ चेहरा याद आ गया। उसकी आश्वस्त करती मुस्कुराहट और भिगो देने वाली आत्मीयता। उसमें हर पल शिद्दत से जीने का आग्रह रहा है। कोणार्क की सड़क पर चलते उसके कहे वाक्य याद आए—"दिन लंबा नहीं है/और उजाले को लूट ले जाने वाली रात भी दूर नहीं।" फिर से सोचना होगा। सिद्धार्थ के पत्र ने फिर से सोचने को उकसाया। मन में सिद्धार्थ की यादें लेकर अनिरूद्ध के साथ जीना क्या अपने आप से ही धोखा नहीं होगा? मेरे भीतर कई सवाल उठे और मैंने उनके जवाब ढूंढ़ने चाहे। क्या एक के साथ संबंध जोड़ने के लिए दूसरे की आत्मीय अंतरंगता भूल जाना जरूरी है? क्या हर नया रिश्ता पुराने रिश्ते की नींव पर ही बनता है? मां, पिता, भाई-बहन, सखी-दोस्त, पति, प्रेम ... संबंधों के इतने नाम, इतना फैलाव ... कि कोई एक दूसरे की राह में नहीं आता। सागर सा मन। इसमें उठती लहरें ही तो हैं संबंध। हम क्या इतने महत्वपूर्ण हैं कि सही गलत की मनगढ़ंत परिभाषाओं में जीने के मकसद को ही भुला दें? यदि मैं अनिरूद्ध से शादी करूं तो शायद वैसा प्यार न दे पाऊं, जो मैंने सिद्धार्थ को दिया था, पर उसकी साथिन और बच्चों की मां बनकर एक उदास घर में खुशियों का उजास तो भर सकती हूं। क्या बीते हुए वक्त पर ठहर जाना जिंदगी के बेशकीमती पलों का अनादर करना नहीं होगा? सिद्धार्थ भी चाहता है कि मैं अतीत को अपनी ताकत बनाऊं। खंडित स्वप्नों पर शोक मनाने से बेहतर जिंदगी की चुनौतियों में जीने का अर्थ हासिल करना होगा। सिद्धार्थ को मैं भूल नहीं सकती, यह पत्थर की लकीर है, भूलना चाहूंगी भी नहीं। पर क्या सिद्धार्थ का प्यार मुझे मेरे कर्मों और नए दायित्वों को निभाने की शक्ति नहीं देगा?

मैंने उसी वक्त तय किया कि मैं अनिरूद्ध के साथ नया संबंध बनाऊंगी और सिद्धार्थ का संबंध उसमें आड़े नहीं आएगा।

पिछली बार तन्वी ने मेरी साड़ी का पल्ला पकड़ कर मुझे घर लौटने से रोका था—"आंटी हमारे घर चलो न।" वह पल्लू छोड़ती ही नहीं थी। अनिरूद्ध ने समझाया, मनाया, फिर हल्के से डांटा भी, "जाने दो, इन्हें देर हो रही है।"

— ना, पहले आंटी से कहिए, वह प्रामिस करें। बच्ची मचल पड़ी।

— "हां बेटा, आ जाऊंगी।" मेरे आश्वासन से तन्वी का चेहरा चमक उठा था। परीक्षित जरूर तटस्थ बना अपनी पुस्तक पर नजरें गड़ाए चुप बैठा रहा था। उसके मन की थाह पाना आसान नहीं था। मुझे लगा शायद इस बच्चे की हंसी मैं लौटा सकूं। बचपन से अपने भाई बहनों पर जो ममता लुटाती आई हूं उसने मुझे विवाह से पहले ही मां बना दिया है। मन तो जुड़ाव का भूखा रहा सदा से, जहां भी, किसी ने अपना कहकर पुकारा, मेरे जेहन ने कौंचा, "उसे तुम्हारी जरूरत है कुनी।"

उन्हीं दिनों दिवाकर छुट्टी पर आया था। जल्दी भुवनेश्वर वापस आने की उम्मीद थी। मंत्रालय में किसी ने सिफारिश की थी। अपने व्यवहार से भी उसने अपने अफसरों का दिल जीत लिया था। मैंने हिदायत दी—"अब तो किसी लालच में नहीं पड़ोगे न?" दिवाकर ने हंसकर कान पकड़ लिए। कावेरी भी छुट्टियों में कुछ दिन नागालैंड रहकर आई थी। वह अब पहले से शांत हो गई थी। हालात पर पकड़ ढीली होते देख, उन्हें सहने की व्यापारिक आदत उसे समझौता करना सिखा रही थी।

घर के सभी सदस्यों के सामने प्रभा मौसी ने मेरी शादी की बात उठाई। अनिरूद्ध का जिक्र किया तो मां को जैसे भगवान ने छप्पर फाड़ कर कोई अप्रत्याशित खजाना भेज दिया। बप्पा ने मौसी को धन्यवाद दिया और कहा, "तुम लोगों से ज्यादा कुनी की चिंता और कौन करेगा?"

लेकिन प्रद्युम्न-दिवाकर को मौसी का सुझाव पसंद नहीं आया।

— मौसी! तुम्हें दीदी के लिए दो-दो बच्चों का पिता ही नजर में आ गया? प्रद्युम्न ने बेरूखी से पूछा।

— और क्या? लड़का तो 'प्रॉबलम चाइल्ड' है। सुना है मां के मरने के बाद वह काफी गंडगोल करता है। घर की चीजें पटकता है, पढ़ाई भी नहीं करता ... ऐसे घर में दीदी को शादी का क्या सुख मिलेगा? दिवाकर ने जोड़ा।

— डॉ. राय को घर और बच्चे संभालने के लिए कोई औरत चाहिए, इसके लिए क्या हमारी दीदी ही बची है?

प्रद्युम्न-दिवाकर देर तक मौसी से सवाल-जवाब करते रहे। मां चुप। जैसे हाथ आई पूंजी अचानक फिसल कर गिर पड़ी हो। बप्पा ने जरूर बेटों को डांटा, "तुम्हारी प्रभा मौसी कुछ सोच समझ कर ही डॉ. राय का प्रस्ताव लेकर आई हैं। डॉ. अच्छा आदमी है। उम्र भी ज्यादा नहीं। घर, खानदान, जमीन जायदाद सब है। और क्या चाहिए कुनी को?"

— पर क्या दीदी को डॉ. पसंद है? कावेरी बीच में बोल उठी।

— दीदी से पूछना चाहिए।

— हां-हां दीदी से पूछ लो। मैं नहीं समझता वह पसंद करेंगी। यह प्रद्युम्न था। प्रद्युम्न के पास शायद मेरी पसंद-नापसंद जानने का दावा करने के लिए कोई सूत्र हाथ लग गया था। वही सिद्धार्थ का पिछला पत्र। लेकिन इस बीच कितना कुछ घट गया था, जिसे वह नहीं जानता था।

मौसी चौतरफा प्रश्नों से घिरी घबरा सी गई थी—

—आप लोग जो ठीक समझो, आपस में मशविरा कर मुझे बता दो। कुनी से मैं आप ही बात कर लूंगी। उसकी आवाज का उत्साह बुझने लगा था।

साथ वाले कमरे में नन्हीं से खेलने का बहाना करके भी मेरे कान बैठक में होते संवाद की तरफ लगे थे। मौसी पर भाइयों का आरोपों भरा आक्रमण मुझे अच्छा नहीं लगा। वे क्या सचमुच अभी भी इस उम्मीद में बैठे हैं कि कोई तीस साला युवक उनकी छत्तीस वर्षीय बहन के गले में वरमाला डालने दौड़ा आएगा? या वे चाहते ही नहीं कि उनकी बहन का भी अपना घर संसार हो? एक तरह से तो उन्होंने मेरे आजन्म कुंवारेपन को अपनी स्वीकृति दे दी दी है। अब तो प्रीति और फिर प्रणति की बारी है। मैं तो शादी की उम्र कब की पार कर चुकी। अब इस वक्त प्रभा मौसी का मेरे विवाह का प्रस्ताव लाना नई समस्याएं पैदा कर सकता था। नये खर्चे भी तो भाइयों को ही उठाने पड़ेंगे। प्रीति-प्रणति की शादियां भी करनी होंगी।

पता नहीं मैंने सही सोचा या गलत। उस वक्त तात्कालिक प्रतिक्रिया ऐसी ही हुई। मन में गुस्सा भरने लगा—"मेरे भाइयों को मेरे व्यक्तिगत मामलों में बोलने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि आज तक उन्होंने मेरे लिए कभी कोई चिंता नहीं की। आज मैं भी अपनी जिंदगी के अहम फैसले में उनकी राय नहीं लूंगी।" मेरे भीतर फन काढ़े सांप सी जिद फुफकारती रही। मेरी बरदाश्त की हदें टूट गईं। मैं शाम को ही प्रभा मौसी के घर गई और उसे अपना फैसला सुनाया, "मौसी! मैं अनिरूद्ध से शादी करूंगी। तुम बप्पा-बोऊ से कह दो और अनिरूद्ध से भी। कहने तो मैं भी कह सकती हूं पर तुम्हारे रहते, लिहाज-शर्म का आवरण तोड़ना मैं जरूरी नहीं समझती।"

प्रभा मौसी ने मुझे गले लगाया, "तुम उत्तेजित न हो झियो! ऐसे फैसले जिद में आकर नहीं करते, तेरे यहां आने से पहले प्रद्युम्न आया था। उसने कुछ बातें कहीं। जिन्हें सुनकर मैं भी सोच में पड़ गई।"

मैं चौकन्नी हो आई—"क्या कहा उसने मौसी, खुलकर कहो न?"

तब मौसी ने सिद्धार्थ की चिट्ठी की बात पूछी। प्रद्युम्न ने कहा था कि दीदी किसी लड़के को पसंद करती है जो जल्दी ही विदेश से लौटने वाला है। उसी से शादी होगी। कुछ देर के लिए मैं अवाक् रह गई। हतबुद्धि सी। एक बार मैं फिर प्रद्युम्न को समझने में गलती कर गई। उसका आक्रोश, अनिरूद्ध का विरोध करना, सब याद आ गया। तो क्या वह मेरे सुख की बात सोच रहा है? मेरी पसंद जानकर मेरे मन की थाह पाना चाहता है? कावेरी-दिवाकर, सभी जान गए हैं कि मैं सिद्धार्थ का इंतजार कर रही हूं। मैं सिद्धार्थ से प्रेम करती हूं। कावेरी के शब्द जेहन में देर तक गूंजते रहे, "क्या दीदी को डॉक्टर पसंद है?"

कुछ देर कमरे में सन्नाटा खिंचा रहा। मौसी उठकर कमरे में चहलकदमी करने लगी। मैंने खुद को समेटा, "मौसी! वह सब बीती बात हो गई है। अब ऐसा कुछ नहीं है। मैं किसी का भी इंतजार नहीं कर रही।"

— सच कह रही है मेरी बिटिया?

तुम्हारी कसम मौसी।

मौसी की आंखें भर आईं, "मेरा भी स्वार्थ है कुनी। मैं अनिरूद्ध का भी और तेरा भी घर बसा देखना चाहती हूं। तुम्हारे लिए कोई योग्य अविवाहित लड़का ढूंढ़ नहीं पाई पर अनिरूद्ध के साथ तुम सुखी रहोगी। मुझे विश्वास है। वह बहुत अच्छा इंन्सान है। बच्चे तो अभी से तुम्हें चाहने लगे हैं झिओ ... "

— छोड़ो मौसी विवाहित-अविवाहित की बात। मैं भी अब कौन सोलह साल की किशोरी हूं। सच मानो तो मैं अब इस विवाह के पचड़े से दूर ही रहना चाहती थी। तभी तो घर से दूर चली गई। इस विवाह प्रसंग में मुझे काफी घसीटा गया मौसी। मैं जख्मी हो गई। अभी तो थोड़ी सम्हली हूं।"

मैं मौसी से बात करते सुबक उठी। पता नहीं क्यों प्रभाकर के साथ मंगनी की बात से लेकर कावेरी के आक्षेप तक सभी प्रसंग याद आए और जख्मों की तरह टीसने लगे। मौसी ने बहलाया, "लो देखो यह पढ़ी लिखी लड़की है। अरे, घसीटने की बात भली कही। वह तो हमें तमाम उम्र अपने-पराये सभी घसीटते हैं। अपनों को तो कुनी, हम छलने का अधिकार देते हैं। तुम वह सब बात छोड़ दो। तेरे भाई तेरे दुश्मन नहीं हैं। प्रद्युम्न से गलती हुई पर वह भी तुम्हारी चिंता करता है। तुम्हें सुखी देखना चाहता है। अब सभी बातों का तो उसे ज्ञान नहीं, जितना देखा, पढ़ा, उतना ही सच समझा। आखिर तेरा भाई है ... ।"

मैंने अपने आंसू पोंछ लिए और प्रद्युम्न को मन ही मन क्षमा कर दिया। मौसी ने जगन्नाथ की रथयात्रा में, पहंडी में भक्त जनों का भगवान को घसीट कर अपनी शिकायतें सुनाने की बात कही तो मैं भीग गई। सच ही तो है, जिसे हम प्यार करते हैं, उसके सामने अपना गुस्सा, शिकवे, शिकायतें भी प्रकट कर लेते हैं। भाई ने हमारे सामने मुंह नहीं खोला। भगवान को हम ताने देते हैं।

सो जगन्नाथ भी अपने भक्तों के ताने सुनते हैं और उनके मन की बात समझते हैं। हम लोग तो साधारण प्राणी हैं। दुनियावी सुख-दुःख और हानि लाभ के मकड़जाल से घिरे, हमें रोजमर्रा के तनावों से घबराना क्या ठीक लगता है?

उस शाम मैं जगन्नाथ की त्रिमूर्तियों के आगे आंखें मूंद कर देर तक प्रार्थना करती रही। मेरा उद्धार करो जगन्नाथ, मुझे शक्ति दो। मेरे जीवन को कोई अर्थ दो। नए दायित्व निभाने की क्षमता दो।

> माने उद्धारण कर हे कारण
> सरन मू तुम पाद तले ... "

और मेरी शादी हो गई। भाई-भाभियों ने उत्साह दिखाया। प्रीति की शादी भी जल्दी हो जाएगी। कटक में ही उसकी भी ससुराल है। वह आश्वस्त है कि दीदी पास रहेगी। मौसी ने सभी की गलतफहमियां और आशंकाएं दूर कर दी हैं। मेरा एक ही आग्रह था कि मेरी

शादी आर्यसमाज की रीति से सादगी से हो। एक संक्षिप्त सा यज्ञ हो, बिना तामझाम के। अनिरूद्ध भी मुझसे सहमत हो गया। वह वैसे भी शोर-शराबा पसंद नहीं करता। उसके अपने कारण हैं पर मेरी इच्छा को उसने आदर दिया है, "जैसा तुम ठीक समझो। जैसा तुम्हें भला लगे।"

पुरूष स्त्री को आदर दे, प्यार और विवेक से उसे उसकी जगह दे, तो औरत भी पूरे समर्पण से उसके इर्द-गिर्द बेल सी लिपट जाती है। मैं भी अनिरुद्ध की पत्नी बनकर उसकी अपनी हो गई।

मां-बाप खूब खुश थे। संतुष्ट। जैसे चार धाम की तीर्थ यात्रा करके लौट आए। ओज्जा-आई गांव से आए और मुझ पर आशीषों के फूल बरसा गए। राधानाथ मौसा तो अनिरूद्ध को जानते ही थे, सतपति बाबू और बप्पा के अन्य ढेर सारे मित्रों ने अनिरूद्ध को सराहा—कुल, गोत्र, पद, प्रतिष्ठा, वैभव और रूप भी कम नहीं। भगवन मंगल करंतु। राधानाथ मौसा ने मौका पाकर अपना ग्रह नक्षत्र का ज्ञान बघारा, "मैं कहता था न कि कुनी का भाग्य तेज है। बस समय की बात है। ईश्वर की कृपा की प्रतीक्षा करनी होगी। उसकी दृष्टि पड़ते ही वारिधि में बांध खड़ा हो जाएगा। हमारी कुनी तो सर्वगुण संपन्न है, उसकी पसंद भी वैसी ही श्रेष्ठ!"

पता नहीं मैंने अनिरूद्ध को पसंद करते वक्त कुछ सोचा या नहीं। सिद्धार्थ ने नासिरा से शादी करते वक्त क्या सोचा होगा? मेरा निर्णय तो उस पहली भेंट की प्रतिक्रियास्वरूप लिया निर्णय था, जो हालात के हिसाब से सही था। दूर तक मैंने नहीं सोचा। मेरे सामने एक सरल हृदय वाला व्यक्तित्व था जो हालात से परेशान था, मां का आंचल खोजते बीच राह भौचक खड़े उदास बच्चे थे। मैंने बस इतना ही देखा कि इन्हें मेरी जरूरत है।

पर मेरे बुजुर्गों ने इसे मेरे परिपक्व सोच का परिणाम बताया और खूब सराहना की। मौसा ने हंसते हुए पुरातन विश्वास से पगी दो पंक्तियां सुनाई, जो उन्होंने मति की शादी पर भी सुनाई थीं।

— क्या कहा है भाईना बुजुर्गों ने, बोलो तो?" सतपति बाबू ने स्वर मिलाया।

"कन्या वरयते रूपम, माता वित्तम, पिता सुतम, बंधवः कुलम इच्छन्ति, मिष्ठान मित्तरेजनः ... " इधर तो सभी गुण इकट्ठा हो गए।

— तो लाओ मिष्ठान! प्रद्युम्न, दिवाकर। कहां हो भई?"

— क्यों नहीं, खाली मिष्ठान से ही नहीं चलायेंगे, प्रीति भोज में दस तरह के रोचक पकवान खाकर जाओ ... ।"

बप्पा ने प्रीति भोज में मित्रों-बंधुओं को साग्रह बुलाकर खूब तृप्त कर दिया। वे अपनी बड़की बेटी के लिए दुनिया भर के आशीष बटोरना चाहते थे और अक्षत-फूलों की तरह मेरे ऊपर आशीष बरसे।

— "अहि सुलक्षणी होऊ।" पिता बार-बार असीसते रहे।

— पाकला बालरे सिंदूर नाहा।" बाल पकने पर भी सिंदूर बना रहे। आई और

मां बार-बार माथा चूमती रहीं।

—"आयुष्मती होऊ"—"बूढ़ी टीइ होई था।"

—"शत पुत्रवती होऊ" ... "जगन्नाथ मंगल करंतु।"

मेरे सौभाग्य को सभी ने सराहा और मैं आशीषों से लिपटी अनिरूद्ध के घर आई। कटक में शानदार बंगला है अनिरूद्ध का। लंबे-चौड़े लान में ताज़ी कटी घास के किनारे पर पीले-लाल फूलों की बरजस्त क्यारियों ने नन्हें हाथ उठाकर मेरा स्वागत किया। घर का माहौल सौम्य और शांत था। एक मूक आश्वस्ति हर व्यक्ति के चेहरे पर अंकित थी। अनिरूद्ध के भाई-भाभियां बुआ से लेकर नौकर-चाकर तक अनिरूद्ध का घर फिर से बस जाने पर खुश थे। और बार-बार जगन्नाथ स्वामी का आभार मान रहे थे। तन्वी चहक रही थी, बेटा उत्सुकता से मुझे परख रहा था।

मेरी सुहाग रात! कमरा फूलों की सजावट और ढेर सारे मित्रों से उपहार में मिले गुलदस्तों से महक रहा था। मैंने अनिरूद्ध से आग्रह किया कि घर में पहली रात मैं बच्चों के साथ गुजारूंगी, अगर आप इसे ठीक समझें। अनिरूद्ध ने जैसे मुझे अभयदान दे दिया—"अब तुम इस घर की स्वामिनी हो, जो ठीक समझो करो।"

— तो मैं जाऊं? मैं उठने लगी तो अनिरूद्ध शरारत से मुस्करा कर पास आया—"तुम जीती मैडम, मैं हार गया, पर थोड़ा सा अनुरोध तो मानना पड़ेगा।"

— क्या?"

उसने दोनों हाथों में मेरा चेहरा समेट कर माथे पर होंठ रख दिए, आशीष की तरह। मैंने जाने किस संस्कारवश झुक कर अनिरूद्ध के पांव छू लिए।

—नहीं, ऐसा मत करो। उसने टोका। —"प्रतिदान देना चाहो तो एक हमसफर साथी की तरह दो।"

उसने बाहों के घेरे में लिया तो मेरा मुंह आरक्त हो गया। अनिरूद्ध की सांसों की गरमास से मैं पिघलने लगी।

— प्लीज़, आज मेरी बात सुनो ... मैंने एक बार फिर कहा।

उसने जिद नहीं की। और मैंने पहली रात अनिरूद्ध के साथ न बिता कर बच्चों के कमरे में गुजार दी। मैं पहली रात ही मां बन गई। तन्वी आंखों में अंगुली डाले जा रही थी। और परीक्षित टेबल लैंप जलाकर कुछ पढ़ने का बहाना कर रहा था। शायद दोनों के कान घर में आए नए सदस्य की गतिविधियों की ओर लगे थे। मुझे देखकर वे चौंके भी और खुश भी हुए। मैं देर तक उन्हें कहानियां सुनाती रही। उनसे उनकी बातें करती रही। आधी रात के वक्त बच्चे सो गए तो मैंने भी थकी कमर सीधी कर ली।

सुबह सूरज की पहली किरण खिड़की पर दस्तक दे गई तो मेरी आंख खुल गई। उस वक्त परीक्षित अपने बिस्तरे पर नींद में मस्त सो रहा था। तन्वी मेरी साड़ी का छोर मुट्ठी में बंद किए हल्के खर्राटें ले रही थी। मैंने अदृश्य को हाथ जोड़े। मेरे बच्चों ने मुझे अपना लिया था। नन्हें चूजों की तरह इर्द गिर्द लिपटे बच्चों को देखकर मेरे भीतर करूणा

की झील थरथराई—मैं तुम्हारी मां हूं बच्चो।

सुबह नाश्ता कराते अनिरूद्ध की दीदी ने ढेर सारी शुभकामनाओं के बीच सूचित किया कि वह दो चार दिन के लिए बच्चों को अपने साथ ले जाएंगी। काफी दिनों से मचल रहे हैं कि बुआ के घर चलेंगे। घर में बड़ी भाभी हैं। तुम लोग जगन्नाथ जी दर्शन करके दो चार दिन कहीं घूम आओ। एक दूसरे को जान लो। काम धाम तो जीवन भर चलता ही रहता है ... ।

प्रोग्राम तय किया गया था। मेरे कुछ बोलने का प्रश्न ही नहीं उठता था। शाम को ही दीदी बच्चों को लेकर भुवनेश्वर चली गईं।

अगली सुबह नहा धोकर हम पुरी के लिए रवाना हुए। हमारे संस्कार-प्रिय घरों में जगन्नाथ का आशीष पाना जरूरी है। अनिरूद्ध के घर वाले भी पारंपरिक विश्वासों का श्रद्धा से पालन करते हैं। हालांकि 'हनीमून' की आधुनिक प्रथा भी बड़ी सहजता से उन्होंने अपनाया है। पारंपरिक विश्वासों के साथ आधुनिकता का मेल मुझे प्रभावित कर गया।

पुरी के श्रीमंदिर में अनिरूद्ध के साथ मैंने माथा टेका तो सिद्धार्थ साथ-साथ चलता रहा। मैंने उसे दुत्कार कर भगाया नहीं क्योंकि वह अपनी परछाईयों को अपने आसपास समेटे, अपनी खामोश उपस्थिति में, मुझसे कहीं भी उलझ नहीं रहा था। रूक-रुक कर नजर भर देख लेता था, संतुष्ट और शायद आश्वस्त भी। वह मेरा अभिभावक बन गया था। कुनी! खुश तो हो? शायद अनिरूद्ध के साथ भी पुरानी यादें थीं। वह भी चुप था। हमने एक दूसरे को कुरेदा नहीं।

अनिरूद्ध पुरी से लौटते कोणार्क की तरफ रवाना हुआ। नहीं, पुरी तट पर घूमने का कोई प्रस्ताव उसने नहीं रखा। रखता तो जरूर मैं वहां भी रेत पर सिद्धार्थ के पैरों के निशान खोजने लगती। मन को जबरन रोकना मैंने छोड़ दिया है। सिद्धार्थ के बारे में तो यही बात सच है, क्योंकि वह अंतरंग मित्र बनकर मेरी यादों में रच गया है, ढेर से हितैषियों की पंक्ति में खड़ा। देह से पार। देह तो मैं अनिरूद्ध को सौंप रही हूं और मन? मन किसी एक व्यक्ति का महदूद नहीं रखा जाता। वह बात अब मेरे लिए वेद की लकीर है।

अनिरूद्ध दो तीन दिन के इस 'हनीमून' में कहां-कहां जाएगा? मैंने पूछा नहीं। बहुत व्यस्त रहता है अनिरूद्ध। उसका दो-तीन दिन अस्पताल और क्लीनिक से दूर रहना कई रोगियों के साथ अन्याय है, मैं जानती हूं। पर वही सिद्धार्थ की बात कि एक के साथ न्याय करते दूसरे के साथ थोड़ा अन्याय होना शायद स्वाभाविक है।

यहां कोणार्क पहुंच कर उसने ठहरने के लिए कोणार्क गेस्ट हाऊस चुना। बुकिंग पहले ही हो गई थी। डॉ. अनिरूद्ध के लिए सुविधाओं की कोई कमी नहीं। जान पहचान वाले मुलाकाती और झुक कर आदाब करने वाले जगह-जगह पर घेर लेते हैं। गेस्ट हाऊस वालों को उसने हिदायत दी है कि उससे कोई मिलने नहीं आएगा। बल्कि किसी को भी मालूम न हो कि डॉ. अनिरूद्ध यहां ठहरे हैं।

हम लोग दुपहर को यहां पहुंचे। खाकर आराम किया तो सागर तट पर टहलने

निकल पड़े। नहीं, झाऊ के वनों के बीच पैदल, हाथ में हाथ डाले नहीं। अनिरुद्ध को एक दो किलोमीटर चलने की आदत नहीं। चुस्त दुरूस्त शोफर के साथ एयरकंडीशंड कार हमारी सेवा में हर वक्त हाजिर रहती है। मैं मिसेज अनिरूद्ध बनी उसके साथ-साथ चलती, उसके आसपास का रूआबदार प्रभामंडल महसूस करती रही हूं लेकिन जो चीज मुझे उसकी ओर तेजी से खींच रही है वह उसका सरल और सौम्य व्यक्तित्व ही है। उसका प्रभामंडल दूसरे को परे नहीं करता, स्नेह से पास खींचता है। शायद इसी कारण मैंने उससे ढेर सारी बातें कीं। उसके घरेलू हालात जाने। मेडिकल कालेज में एम. बी. बी. एस. से लेकर अमरीका में हार्ट सर्जरी की ऊंची ट्रेनिंग, शादी, बच्चे, दो वर्ष पूर्व कार एक्सीडेंट में उसके माता-पिता की मृत्यु, पत्नी की लंबी बीमारी और उसके निधन के बाद घर और बच्चों की परेशानियां। छः मास बीतते ही प्रभा मौसी का आग्रह—''कुनी को एक बार देख लो। बच्चों को मां चाहिए ... ।''

मैंने अनिरूद्ध से पूछा—''आपका मन नहीं करता कि कोई बहुत सुंदर, नाजुक सी लड़की आपकी पत्नी बने। मुझमें तो कोई भी खास बात नहीं।''

अनिरूद्ध ने मेरी हथेली अपने दोनों हाथों में भर ली—''मुझे तुममें सब कुछ मिल गया, बस! और कुछ मत पूछना। दिल की चीर-फाड़ करने वाला जरूर हूं। दिल के रोग पहचानता हूं पर मन में उगती संवेदनाओं की बारीकियों की पड़ताल मेरे बस की नहीं। हो सकता है कभी तुम्हारी बात न समझूं, पर तुमसे एक अनुरोध है कि अपने मन की बात मुझसे खुल कर कहो। कभी कुछ मन में न रखना। मैं खुश होता हूं तो हंसता हूं, दुःखी होता हूं तो अपने आप को समझता हूं और चोट लगती है तो रोकर हल्का हो जाता हूं। यानी कि तुम्हारे सामने मैं एक खुली किताब हूं।''

मैंने अनिरूद्ध के हाथों में बंधी अपनी हथेली छुड़ाई और उसके दोनों हाथ अपने चेहरे से सटा लिए। कहा कुछ नहीं, महसूस भर कराया कि मैं तुम्हें समझती हूं।

हम लोग देर तक सागर तट पर बैठे लहरों का आलोड़न देखते रहे। तभी मुझे सिद्धार्थ का कई साल पहले का वाक्य याद आ गया—''क्या गांव का यह मुक्ति स्थल तुम्हारी मुक्ति की जगह नहीं हो सकता?''

मैं आज कितना मुक्त हूं, नहीं जानती, पर कई बंधनों को तोड़ते—और जोड़ते अपने भीतर कहीं किसी खुले आकाश का नीला विस्तार जरूर महसूस करने लगी हूं। टुकड़ा भर आकाश काफी होता है। पंख फैला कर उड़ान भरने के लिए। यों जीवन की दुविधाओं-आशंकाओं से पूर्ण मुक्ति तो शायद मृत्यु के बाद भी संभव नहीं। मोक्ष की स्थिति की बात तो ज्ञानी जन जानते होंगे। हम तो जीवन को ही समझने में चूक जाते हैं।

मेरे सामने अभी जो सच है, वह यह कि पूर्णिमा की धुली-धुली चांदनी रात है जो अब ढलने लगी है। यहां सिरहाने की तरफ खुलती खिड़की से सागर को छूकर आती हवा के नम झोंके हैं और लहरों का अनादि गर्जन! दूर से दिखता ध्वस्त शिखर कोणार्क, जो बाहर से खामोश है पर भीतर से बहुत बातूनी है। हजारों हज़ार कथायें अपने सीने में समेटे

काल को चुनौती देता खड़ा है। कई सुख हैं जो कालांतर में जख्म बनकर टीसते हैं, कई विरह गाथाएं, जो नृत्य मंडप की नर्तकियों के खामोश नूपुरों में आधी रात को मुखर हो उठती हैं। जिन्होंने अंतरंग संवेदन से प्यार और उजास के कोणार्क बनाए, वे इन खंडित मूर्तियों का दर्द महसूस करते हुए भी अपने निर्माण सुख से समृद्ध रहेंगे। वह चाहे मैं होऊं, सिद्धार्थ हो या शायद नासिरा ही ... ।

रात के इस आखिरी पहर में मैं कुछ-कुछ हल्का महसूस करने लगी हूं। सिर दर्द भी अब नहीं है। पिछले कुछ घंटों में अपनी जिंदगी की पूरी किताब मैंने वरक दर वरक पलटी है। अतीत से दोबारा वर्तमान तक जीते खुद को घटनाओं, हादसों और किस्सों से होकर गुजरते देखना अपने आपको नये सिरे से जानना होता है। अनिरूद्ध क्या कभी जान पाएगा? लेकिन नहीं। उसे वह सब जानने की जरूरत भी नहीं। उसने भी अपने हिस्से के उजाले, अंधेरे भोगे हैं। उसी के शब्दों में कहूं तो वह भी बाजवक्त हंसा है, कभी खुद को समझाया है और कभी रोया भी है।

कमरे में ढेर-ढेर रजनीगंधा के फूलों की बौराने वाली महक रच गई है। अनिरूद्ध ने मेरी पसंद के फूल अपने हाथों से कमरे के कोने-कोने में सजा दिए हैं। उसकी हर हरकत से सहज आनंद और भीतरी खुशी का उजास फूटा पड़ रहा है। मेरे सिरदर्द की बात सुन उसने मेरे माथे पर अमृतांजन मला। सिरदर्द की गोली खिला कर आराम करने की हिदायत दी और अपनी तमाम मांगों को कल के लिए मुलतबी कर दिया। पूछा भी नहीं कि मेरा इंतजार कब खत्म होगा?

नारियल के पंखेदार पत्तों की ओट छानकर आते हल्के उजास में वह अभी भी सो रहा है, निश्चिंत या शायद आश्वस्त। उसे कल पर भरोसा है। हवा के ताज़े झोकों के साथ नींद की झपकियां मुझे भी सुलाने लगी हैं। खिड़की से दिखते लॉन के कमलताल में ढेर से कमल उचक-उचक कर झांकने लगे हैं। सफेद काशतंड़ी फूल हवा में झूम रहे हैं, कामदेव के श्वेत चामर की तरह, बकौल दीन कृष्णदास—"कामदेव श्वेत चामर प्राये, काशतंडी फुल चलंति काये ... ।" अपनी ही सुध भुला देने वाले इस माहौल में, कहीं से मीठे सुरों की धुन मुझ तक आ रही है। कहां से आ रही है यह आवाज? क्या झाऊ के वन से?

"दिन लंबा नहीं है/ और उजाले को लूट ले जाने वाली रात भी दूर नहीं/ हमेशा के लिए सो जाना पड़ेगा/ उससे पहले ही दोनों हाथ लूट लो/ जीवन की मदिरा/ व्यर्थ न करो उसका एक कण भी।"

आकाश के क्षितिज पर नए दिन की अगवानी के लिए गुलाबी कालीन बिछने लगे हैं। मैं आवेग में भर कर अनिरूद्ध के सोये चेहरे को छाती में भर लेती हूं। मेरे भीतर सागर की हिलोरें उमगने लगी हैं। उनींदा अनिरूद्ध बांहें खोलकर मुझे समेट लेता है। बाहर झाऊ के जंगल में हवा बांसुरी बजाने लगी है। □

अप्रकाशित उपन्यास अपने-अपने कोणार्क का महत्त्वपूर्ण भाग

दो मेघ गीत

श्रीकांत जोशी

(एक)

गीत अधर पर सुधि सिरहाने
फिर से जागे दर्द पुराने।

सर पर घटा जामुनी उड़ती
छोड़ चली सब ठौर-ठिकाने
नीचे ठगिनी हवा कहारन
लगी बहकने, लगी छकाने
बिजली ठुमके दे कर ताने
गीत अधर पर सुधि सिरहाने।

गरब किए बैठा सूनापन
खुला-खुला मेरा वातायन
बंद नहीं कर पाऊं उठ कर
ऐसा बोझ किए मन धारण
संज्ञा ही से हुए अजाने
गीत अधर पर सुधि सिरहाने
फिर से जागे दर्द पुराने।

खुली-खुली पलकों के जोड़े
सपन भरे हैं थोड़े-थोड़े
मौसम भिगो गया है इनको
बगैर शब्द की जड़ता तोड़े
कोलाहल बैठा सुस्ताने
गीत अधर पर सुधि सिरहाने
फिर से जागे दर्द पुराने।

(दो)

बदली कितनी ढीठ?
बिन बरसे ही चली गई री
देकर अपनी पीठ
बदली कितनी ढीठ?

हलधर ट्रैक्टर खड़े रह गये
गूंजी कातर वाणी
जंगल खदका, धरती दरकी
कजरी हुई बिरानी
मर्द और औरत की आँखें
कैसी बनी मजीठ?
बदली कितनी ढीठ
बिन बरसे ही चली गयी री
देकर अपनी पीठ।

सुख का छलावा देकर कैसे
चली गयी कज्जाक
तन को तोड़ गयी तिनके सा
मन को करके खाक
काले जल सी धूप हो गई
ऐसी बिगड़ी डीठ।
बदली कितनी ढीठ
बिन बरसे ही चली गयी री
देकर अपनी पीठ। □

चार कविताएँ

हेमंत शेष

(एक)

प्रार्थना

हे ईश्वर
हमें इस संसार की नील बनने के लिए
अकेला छोड़ दो

सवेरे सवेरे जो सूर्य
नियमपूर्वक दीप्तिमान
रोटी से भी ज्यादा गोल और गर्म
मेरी खिड़की पर मिलता है टंगा हुआ
मैं उसके लिए कृतज्ञ हूं

जिन लोगों ने
किसी हिरण का शिकार नहीं किया
अपने जीवन में और
निश्चय ही मृत्यु तक जिन्हें
इसका गर्व रहेगा
उनमें मैं भी शामिल हूं

अगर पृथ्वी पर नन्हें पक्षी न होते
तो अकेलेपन और अवसाद के अफसोस में ये
बरगद करूणाजनक दिखते

समस्या यह है कि हूँ मैं भी
और फिर यह दृश्य निरंतर
कि नहीं हूं

हे ईश्वर
मुझे खनिज बना दो।

(दो)

लालटेन

वह, जो डबडबा गया है भीतर
बुझती रोशनी का आलोक
चाहेंगे हम तत्क्षण उसे
किसी बचाए हुए काव्यार्थ से जोड़ना

तारीखों का मतलब क्या है
घड़ियों की सभ्यता में?
वे उड़ती आ रही हैं
किसी अतींद्रिय ऊंचाई से बेमतलब
सारी उकताहटों का, चिंताओं का काल
एक है,

ध्वंस और अंधेरे से भरी
रात में
कोई लालटेन जरूर है हमारे अंदर
जरूरत पड़ने पर जिसे हर संभ्रम में
कविता के चकमक से जलाया जा सकता है।

(तीन)

हमारे होने से धरती

तुम्हारे लिए
खुली है यह धरती इतना सा नीला आसमान
समुद्रों को पीती मछलियां धूप-छांव
इनमें बना नमक, लिपियां, उड़न तश्तरियों के मिथक

घर लौटाने वाली याददाश्त
और
एकहरी तंद्रा की
तराई में सोया हुआ मिलता हूं अपने आपको
वहां पठार है कोई

जिस पर घास के महीन रेशे
उड़ते हैं हवा की दिशा में

रत्नों लवणों चट्टानों जड़ी बूटियों
अस्थिपंजरों से भरी है यह भूमि
इसके गर्भ में अनजान ज्वालामुखी हैं
हिंस्र पशुओं और कीड़े मकोड़ों से आबाद
सदाबहार जंगल

नन्हें बीज पृथ्वी के कवच को
अखरोट की तरह फोड़ कर बाहर आते दिख रहे हैं

एक पिघलती हुई नींद के उपलक्ष्य में
जिसके टूटने का निकट भविष्य में कोई मुहूर्त नहीं

भाषा में
ईश्वर के आविष्कार से पहले
जो कुछ भी रचा जा चुका है
मैं
उसके लिए कृतज्ञ हूं।

(चार)

पृथ्वी को संबोधित

किसी अथाह
के भीतर गिरती
इच्छाओं के लिए प्यारी पृथ्वी
यहां तुम कुछ देर ठहरो

रूको कि तुम्हें दिखलाई दे
हमारी भाषा
जिसमें हम कपड़े पहन रहे हों
वे दीप्तियां
जो इसके अर्थ में उपजें और
शब्दों के भेस में तुम्हारे निस्सीम तक पहुंच सकें

रास्ते में मिलेंगी
उदारताएं
वाष्प से बने बादलों की शक्ल में नदियां
मिलेगा
खार नमक और किताबें
लोग सागर-तटों पर शीर्षासन करते मिलेंगे
हत्यारे भी मिलेंगे संत और कसाई भी
इतना कुछ मिलेगा
कि सब कुछ गड्ड मड्ड होता जान पड़ेगा
प्यारी पृथ्वी
अगर तुम्हें काम पर जाने की जल्दी न हो
और तुम्हें सचमुच दिलचस्पी हो यह जानने में
कि तुम कैसे टिकी हो—आखिर किस केंद्र पर
तो हमें भरोसा है
तुम फौरन सूंघ लोगी
सुबह शाम
चूल्हे पर सेकी जाती
गरमागरम रोटी की महक □

दो कविताएँ

प्रेमरंजन अनिमेष

(एक)

वह नदी

मैंने यों ही नहीं कहा
कि वह नदी है
वह भी उसी की तरह
सदियों से किनारे में बंधी है
और कमाल तो यह
कि उसमें भी वही बेखुदी है

अब नदी सिर्फ
लहर है, भंवर है और देह
नदी को गौर से देखो
तुम्हें लगेगा जैसे
एक अल्हड़ औरत को
विवसन, सिर्फ जिस्म बनाकर
खाइयों की सेज पर रख दिया गया है
तुम उसे हिस्सों में देखने के आदी हो
तुम उसे गौर से झांककर देखो
तुम्हें दिखायी देंगे
न सिर्फ उसके बंधे हाथ पांव
बल्कि दबे-नुचे कटे पंख भी
तुम गौर से देखो उसे
तो तुम्हें दिख सकेगा
एक असह्य पीड़ा को पीते हुए
यातना में उसकी आंखें मुंदी हैं।

नदी की गति की बात
उसकी चंचलता, चपलता

सब तुम्हारा रूमान है
नदी के पास तो सिर्फ
जांते, या ढेंकी, या सिल पर जूझती
औरत की थकान है

एक बार जो चली वह
जो रास्ता तय कर आयी,
उसके बाद से तो वह सिर्फ कैद है
बढ़ती दिखती हैं लहरें जो
पीड़ा की सिहरने हैं
नदी की सांस है
जो उसे जिंदा बनाए रखने की
न्यूनतम शर्त भर है

उफनने में नदी का क्या दोष
मुझे सूरज और मेघ
उस आदमी का हिस्सा लगते हैं
जो जब मरजी निचोड़ लेते हैं उसे
यातनाओं से लादते हैं
या जब अपनी आदिम मांग होती है
भर देते हैं किसी बोरे की तरह उसे

नदी पर कांपते अरूणोदय में
मेरे जेहन को चीरती हैं दो बातें
कितना सस्ता है रक्तस्राव इस समय
और कितनी मंहगी पड़ती है
यह जो मेंहदी है

मैं खड़ा हो जाता हूं
जब भी हवाएं या बच्चे
नदी के पानी को थपथपाते हैं

इस आशा में
कि किसी वक्त, कभी
साफ हो जाएगा नदी की आंखों में

कि कोई और है
उसकी यातनाओं के पीछे
यह भोलापन, अनजानापन है उसका
कि यह सब किस्मत की बदी है

मैंने यूं ही नहीं कहा कि वह नदी है ...

(दो)

माँ को याद है ...

माँ को अपना जन्म दिन याद नहीं
उसे याद है दूध का हिसाब
उसे याद है धोबी को दिए जाने वाले कपड़े
उसे याद है मेरी स्कूल फीस
उसे खूब अच्छी तरह याद है
पिताजी की चाय में चीनी का अनुपात

माँ को अपना जन्म दिन ही याद नहीं

माँ बैठकर सोचती है
और मुझे लगता है
उसे याद आ रहा है
लेकिन उसे याद आ जाता है
चूल्हे को खोरना
रसोई का खुला रह गया दरवाजा
या किसी के आने का समय

मैं उलट-पुलटकर देखता हूं सारी चाजें
सारी कहानियां जो उसने सुनायी है
सारे डिब्बे जिसमें कुछ-कुछ रखा है उसने
डायरी जिसे खर्च के हिसाबों से
पाट दिया है उसने

कहां भूल आई है वो
कहीं चूल्हे की आंच में तो नहीं जला आई
कपड़े धोने में तो नहीं गला आई

घर की सफाई करते
रद्दी में तो नहीं मिला आई

खाली हाथ झुंझलाता हूं मैं
फिर इतनी अच्छी तरह
क्यों याद है उसे मेरा जन्मदिन
वह उसे भी भूल जाए

कोई बड़ा वास्ता देकर
आखिरी बार पूछता हूं माँ से
उसका जन्म दिन
और एक मुस्कराहट के साथ
बतलाती है वह एक तारीख
जो मेरा जन्मदिन है

मैं अविश्वास से देखता हूं उसे
मैं गुस्सा दिखाता हूं
कि मैं पूरी गंभीरता से पूछ रहा हूं

लेकिन माँ शांत और गंभीर
फिर उसी तरह कहती है
हां, यह सच है, यही सच है
जिस दिन तुम्हारा जन्म हुआ
उसी दिन जन्मी 'तुम्हारी माँ' भी
उसके पहले
मैं कुछ और थी

माँ ठीक कह रही है मैं सोचता हूं
लेकिन
मरना भी तो पड़ता है फिर जन्म लेने से पहले
माँ! मैं फिर पूछता हूं
दो जन्मों के बीच कुछ मरा भी तो होगा

मैं चुपचाप खड़ी माँ की आंखें देखता हूं
जो धरती, आकाश और रसोई की तरफ लौटेंगी
उसे सब याद है/सब कुछ/पूरा-पूरा। □

दो गीत

मधुर शास्त्री

(एक)

कौन

कौन
किसे,
पूरा कह पाया?
जितनी छिली
अधिक सुंदरतर,
बनती गई खिलौना लकड़ी,
उभरा वही
सघन भवरों से
जिसने लहर निकट से पकड़ी,
लेकिन तेरी इस नदिया में
पूरी तरह कौन बह पाया?
फूलों ने जब,
तन सहलाया
चुभने लगे हृदय में कांटे
उस दुखिया की क्या कहियेगा
जीवन भर
जिसने सुख बांटे।
सुख में छिपी हुई पीड़ा को
पीड़ा समझ कौन सह पाया?
कोई हीरों से
जड़वाता
स्वर्ण किवाड़ें महा-द्वार के,
कोई खुले गगन के
नीचे गाता रहता गीत प्यार के,

रचे हुए इस मन के घर में
पूरा समय कौन रह पाया? कौन ...

(दो)

अनुभूति क्षण

आदमी
कितना अधिक निरूपाय,
जो पहले नहीं था
कहां वीरानगी थी इस तरह
जैसी अब चमन में
कहां,
स्वाधीनता की लौ दबी
हत्यारे दमन में
जिंदगी की
जीभ पर अन्याय,
जो पहले नहीं था
तंत्र अपना है
बहुत स्वीकार,
लेकिन आचरण से
यंत्र बन जाना
बहुत बेकार
दिन भर की थकन से
आज सज्जन भी अधिक असहाय
जो पहले नहीं था
खींच दी दीवार अपने हाथ,
मन कारागार-सा,
स्वार्थ के स्वर में डुबाया गीत
जो, गाया प्यार का
हो गया है दीन
जन समुदाय,
जो पहले नहीं था।

□

माँ के लिए चार कविताएँ

अरविंद त्रिपाठी

(एक)

मैं तुमसे आज्ञा लेकर
भागता हुआ
तुम्हारी आखिरी इच्छा के लिए गांव गया
वहां कुछ जरूरी सामान पैक किये
मसलन अचार, जर्दे की डिबिया,
सरौता और तुम्हारी पुरानी साड़ियां
पुराने बक्से में रखी तुम्हारी
'जिऊतिया'
छोटे भाइयों-बहनों को साथ लिया
और उतनी ही तेजी से लौटा
शाम की गाड़ी पकड़
शहर
शहर से अस्पताल
अस्पताल से वार्ड
वार्ड से बेड
बेड से तुम्हारे नंबर तक
और तुम्हारे सामने खड़ा था
मेरे आस-पास खड़े थे
भाई-बहन
तुम जिन्हें देखती रही
अपलक-अवाक
हमने जब तुम्हारे हाथों को छुआ
तब तुम्हारे होठों पर
कुछ अस्फुट स्वर थे
शायद वे संतोष के थे
मैं जब तक पढ़ता और गुनता
वे संतोष के शब्द

तब तक तुम बिना बताए चल दी
वहां ...
कहां ...
मैं नहीं जानता
यही जाना जिसे लोक में
महाप्रयाण कहते हैं।

(दो)

हम भाइयों ने बहुत जतन से
मां की चिता सजायी
हालांकि हमें रूंधे गले होश नहीं था
कि हम क्या कर रहे हैं
फिर हम सबने माँ के अंतिम दर्शन
बारी-बारी से किए
हालांकि उन्हें इस हाल में
देखा नहीं जा रहा था
पर सबने देखने का साहस किया
आखिर सबको एक दिन
यह सब देखने का साहस करना पड़ता है
फिर हमने मां के गले में पड़ी मालाओं को निकाला
आखिर में एक लाल धागे का सूत्र भी निकाला
'जिऊतिया'
जिसे सिर्फ भारतीय माएँ
अपने बेटों के लिए पहनती हैं
फिर पैरों से लेकर सिर तक
एक-एक लकड़ी जोड़ी गयी
मानों हम माँ के लिए दूसरा घर बनाने जा रहे हों
तब पिता को नहीं रहा गया
उन्होंने अचानक माँ के सिर में आग लगा दी
वे जलने लगीं
आखिरी बार
हालांकि वे वर्षों से जल रही थीं
घर में
सिर्फ चिता नहीं सजायी गयी थी

थोड़ी देर में देखते-देखते वे राख हो गयीं
हमने अपने कातर होठों और झुलसे चेहरों से
उनकी अस्थियां सहेजी
फिर इस महादेश के चारो कोने
उनकी अस्थियों को लेकर दौड़े
देश की प्रमुख नदियों में स्नान किये
अर्ध्य दिए, अस्थियां प्रवाहित की
तब हर जगह मुझे आस्था की प्रतीक
माँ मिलीं
जिन्हें मैंने लौटाने की बहुत जिद की
पर उनकी जिद थी
कि मैं अब सिर्फ राख हूं
राख घर के चूल्हे में फिर नहीं डाली जाती
अब मैं खाद हूं
सिर्फ खाद
मुझे अपने खेतों में बिखेर देना
तब एक दिन
छायादार फलों वाला वृक्ष बनूंगी
तुम आना उस छाया के पास
और अनुभव करना
अपनी माँ के सारे जीवन के
महासंतोष को।

(तीन)

मैं एक फरियाद हूं
जिसे अब कोई नहीं सुनता।
देखते-देखते माँ
एक दिन चुपके से उड़ गयीं
घर का घोसला उजाड़ हो गया।
बच्चे जिनके पास थे
रोजी-रोटी की तलाश में
तितर-बितर हो गये
जिनके पर अभी नहीं थे
वे असहाय पड़े

घोसले में चीखते हैं
उनकी आवाज अब कोई नहीं सुनता
बहुत करूण है उनकी आवाज
जिसे सुनने के लिए कान चाहिए।
पिता अब भी उठते हैं।
रोज सवेरे
दिशा-मैदान से लौकर
लोटा मांजते हैं
गायें सूने नाद पर रंभाती हैं
घर में धुंआ अब भी उठता है
पर वे रोटियां अब नहीं दीखतीं
जिन्हें माँ सेकती थीं.
मेरे घर में अचानक हो गया है
बहुत घुप्प अंधेरा
पर किसी के पास दियासलाई नहीं है
कि वह उठकर
माँ की तरह
एक दिया जला सके।
मैं एक फरियाद हूं
किसके सामने अपना
सिर झुकाऊं

(चार)

तुम्हारी लंबी भरी बांह पर लिखा था
माँ
पिता का नाम
काले अक्षरों में फैला
बांह की शिराओं को बेंधकर
पिता का नाम
दूर से चमकता हुआ
तब वह नाम तुम्हारे लिए
नक्षत्र था
जीवन के शिखरों तक
तम को चीरता हुआ

जिसे गोदा था 'गोदना' समझ
गांव की किसी भूखी-भोली गोदिनी ने
क्या काल ने मिटा दिया वह नाम
तुम्हारी बांह से?
नहीं वह नाम तो जीवित है
तुम्हीं मिटा दी गयी हो माँ!
जीवन की बांह से/बिच्छिन
तुम्हें काल ने मिटा दिया है। □

मिथकीय संवेदना और नरेश मेहता का काव्य

वेदवती सिंह

मिथक किसी भी जाति के जीवित स्वप्न होते हैं यह कथन अर्द्धसत्य है। सच तो यह है कि मिथक, यथार्थ और स्वप्न के द्वंद्व को रेखांकित करते हैं। परिणामतः मिथ कभी यथार्थ हो जाते हैं और यथार्थ कभी मिथ। अतः कहा जा सकता है कि मिथ और यथार्थ का अन्योन्याश्रित संबंध है। मिथक किसी भी जाति के अवचेतन में गहराई से प्रविष्ट होते हैं जो मानव चेतना को आंदोलित और क्रियाशील करते हैं। सांस्कृतिक परिवेश में मिथकीय संवेदना की पहचान कभी धूमिल नहीं पड़ती, क्योंकि किसी भी जाति की समस्त अस्मिता की पहचान मिथकों द्वारा होती है।

आदिम युग से लेकर आज तक मिथकों की पुनर्व्याख्या तथा नए मिथकों का सृजन होता जा रहा है। अतः मिथक को केवल आदिम नहीं माना जा सकता क्योंकि यह तो नितांत भ्रामक और एकांगी धारणा का परिचायक होगा। हां, इतना कहा जा सकता है कि मिथक का विकासात्मक संबंध आदिम मानसिकता से हो सकता है, जो अद्यतन को अतीत से जोड़ता है पर मिथकों का संबंध केवल आदिम ही नहीं आधुनिक भी है। 'मिथकीय संवेदना आज भी हमारे संपूर्ण क्रिया कलाप, चिंतन और संस्कारों के मूल में जीवित है। मिथक संपूर्ण मानवता के अनुभव पुंज हैं और अचेतन में सुप्त होने के बावजूद वे प्रकृति, ऋतु, नेता, नवीन विचार, यौन प्रवृत्ति, जनतंत्र या सामूहिकता, विज्ञान और मनोविज्ञान सभी क्षेत्रों में हमारा प्रत्याक्षाप्रत्यक्ष रूप से नियमन करते हैं, जो प्रेरित करते हैं और अभिव्यक्ति की दिशाएं देते हैं।' जहां तक सर्जनात्मकता का प्रश्न है, मिथ और साहित्य (कला भी) का गहरा और अर्थवान संबंध है।

मनुष्य की महान खोजों में भाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण अविष्कार है। यह प्रतीक व्यवस्था है। इसी प्रतीक व्यवस्था के अंतर्गत मिथ की आविष्कृति एक रचनात्मक (Creative) खोज कही जा सकती है। कला चेतना और धर्म चेतना का विकास इसी प्रतीक और मिथ व्यवस्था की सतत परिणामी मानवीय चेतना की संवेदनशील ऊर्जा का प्रतिफल कहा जा सकता है। मनुष्य अपने यथार्थ से संतोष कभी न कर सकता है न ही उसने ऐसा अतीत में किया है। वह उसका अतिक्रमण करता रहा है। इस अतिक्रमण करने की प्रकृति ने उसे प्रतीकों, मिथों के निर्माण में गतिशील किया।

कला और साहित्य मिथ की सांस्कृतिक प्रक्रिया व्यक्ति और समूह मन के धरातल पर और यहां तक कि ब्रह्मांडीय धरातल पर नये अर्थों के साथ अभिव्यक्त होती है। मिथ का यह परिवर्तन उसकी लोचशक्ति का ही प्रतिफल है। जिसके द्वारा मिथक काल का अतिक्रमण करते हैं और कोई भी महान कृति काल को इसी अर्थ में अतिक्रांत करती है।

कालजयी रचनाएं केवल वर्तमान और अतीत तक ही सीमित न रहकर काल का अतिक्रमण करती हुई अतीत वर्तमान और भविष्य में भी अर्थवान बनी रहती हैं जैसे—'राम चरित मानस', 'इलियड', 'डिविनिय कॉमेडिया', 'पैराडाइज लास्ट' और 'कामायनी' आदि कालजयी रचनाएं हैं।

मिथक हमें मानवीय संपूर्णता की उपलब्धि का विश्वास देते हैं और साथ ही साथ पुनर्निर्माण करने का आश्वासन भी। वे हमें बताते हैं कि मानवीय व्यक्तित्व की पूर्णता अनुभूति और विचार की अवांछित समग्रता और पूर्ण व्यवस्था का प्रत्यय पदार्थ और ऊर्जा से कहीं ऊपर, कहीं अधिक ठोस है, और यह कि जीवन के सिद्धांतों का मूल उसके मात्र भौतिक प्रकटनों से परे है। उनकी यह ठोस सूचना है कि हम मूल से अपने को जोड़ सकते हैं। अज्ञेय ने कहा है कि 'हम काल में जीते हैं जिसका मिथक एक आयाम है।' मिथक की काव्यगत प्रयोजनीयता पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं 'दिक्काल का प्रस्तार जब मुठ्ठी से फिसलने लगता है तो उसको पकड़ में आने लायक बनाने (या हमें उसे पकड़ने लायक बनाने) के लिए हमें खास मगर अत्यंत लचकीली दूरी की आवश्यकता होती है। वह दूरी और दूरी की वह नमनीयता हमें मिथक देती है। मिथक से ही वस्तु को वह लचकीलापन, वह सिद्धि (अणिमा-गरिमा-महिमा-लघिमा आदि जिसके अंग हैं) मिलती है जो उसे कलाकार की वश्य और उपजीव्य बनाती है। उनका यह भी कहना है कि प्रतीक के मूल में मिथक होते हैं।' मिथक भाषा के क्षेत्र में चर्चित क्रीड़ा भाव को बढ़ावा देते हैं।

मिथक को रचनात्मक संदर्भ देने पर उसकी अर्थवत्ता दो समानांतर तत्त्वों पर आधारित होती है—पहला मिथ का मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और ब्रह्मांडीय परिप्रेक्ष्य, जो समष्टि रूप से मिथ की बहुआयामी व्यापकता को चरितार्थ करते हैं। दूसरा तत्त्व किसी भी मिथ का सार तत्त्व है जो जाति के अवचेतन में पैठा रहता है जिसे मिथ की आत्मा भी कहा जा सकता है। यदि रचनाकार इस सारतत्त्व की रचना करते हुए नया संदर्भ देता है तो वह मिथ को अपने समय की आवश्यकता के अनुसार रूपांतरित करने में सफल होता है। मिथ के संदर्भ में 'आदिरूपों या आरिकी टाइप' को लेना भी आवश्यक है क्योंकि मिथ चेतना या सर्जना में 'आदिरूप' सामूहिक अवचेतन के ऐसे तत्त्व हैं, जो ग्राह्य या दमित तत्त्वों के एकत्रित होने पर जटिलताओं को उत्पन्न करते हैं और ये ही जटिलताएं आदिरूपों का सृजन करती हैं जो सामूहिक अवचेतन के प्रमुख मनस तत्त्व हैं। ये आदिरूप अपना संदर्भ बदलकर भी आ सकते हैं, क्योंकि आज के तनावपूर्ण जीवन में भी उनका अस्तित्व उतना ही सत्य है जितना प्राचीन और आदि काल में था। आदि रूप केवल मनस ऊर्जा के स्रोत ही नहीं वरन् बाह्य जगत के परिज्ञान और बोध के भी स्रोत हैं। ये आदिरूप स्वयं प्रतिक्षेपित होते हैं और इतिहास की प्रक्रिया में स्वयं घटित होते रहते हैं। इस प्रकार के आदिरूप धरती आकाश, हीरो, शैतान, वृत्त, प्रकाश, अमीना (काम) अमीनस (रति), राक्षस आदि जो सदैव साहित्य और कला में रचनात्मक संदर्भ पाते रहे हैं। मिथक के रचनात्मक रूप की व्याख्या के लिए इन आदि रूपों को ध्यान में रखना आवश्यक है। नायक, महामाता, असुर

आदिरूप जहां जातीय अचेतन के अभिन्न अंग हैं, वहीं वे व्यक्ति मन के सामान्य ऊर्जा स्रोत हैं। नायक या हीरो का संबंध महामाता से है जो उसका प्रेमी भी है उसका पुत्र भी, और इस रूप में वह महामाता पर अधिकार कर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। जो प्रत्यक्ष रूप में मातृसत्ता से पितृसत्ता की ओर संक्रमण का सूचक है। आगे चलकर हीरो की यह उत्पत्ति अनेक प्रकार के नायकों को विकसित करती है जो क्रमशः सांस्कृतिक समूह मन के अभिन्न अंग हो जाते हैं। हीरो के ये रूप साहित्य में इतने स्पष्ट हैं कि ये युगीन प्रभावों के अनुसार रूपांतरित होते रहते हैं।

नयी कविता में मिथकों का व्यापक उपयोग उसकी स्वप्नशीलता की एक विशिष्ट रूझान का परिचायक है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मिथकों की गवेषणा मनोविश्लेषण के क्षेत्र में भाग लेने वाले शोध कार्यों की सहवर्त्तिनी रही है, जिनका प्रभाव नयी कविता की रचना शैली पर निश्चित रूप से पड़ा है। प्रतीकात्मकता के प्रति रूचि ने भी नयी कविता के कवियों को मिथकोन्मुख बनाया और उन्होंने मिथकों की नयी व्याख्या करते हुए अपने युग बोध को प्रकट किया। मिथक की काव्यगत उपयोगिता का अन्वेषण उनकी अभिव्यक्ति की तलाश का ही एक आयाम है।

अज्ञेय की कविता (असाध्यवीणा) मिथकीय बोध और विश्वासों को मूर्तित करने वाली कृति है। कविता का संपूर्ण वातावरण मिथकीय है। कवि ने मिथकीय चरित्र और पात्रों के माध्यम से आत्मव्यंजना की है। मिथक और उसके परिवेश का व्यापक रूप से उपयोग भवानी प्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण आदि के काव्य में मिलेगा। मशीनीयुग की संत्रासमयी समस्याओं से घबराकर कवि आदिम ग्रंथों की ओर उन्मुख होता है और इसे वहां अपने ज्वलंत प्रश्नों के समाधान मिलते हैं—

> एक सुगंध के बल पर जी रहा हूं मैं।
> सुगंध यह कदाचित्। गर्भ में समझे हुए परिवेशों की है।
> बासी नहीं होने देती। यह सुगंध मुझे।
> आत्मा को सिवा इन आदिम सुगंधों के। कौन बचा सकता है।
> इस तरह डूबने से। आदिम सुगंध आदमी को। हर कीचड़ से।
> ऊपर रख सकती है। पंकज की तरह और रखती भी है।

मिथकशीलता की नयी कविता में वृद्धि होती गयी। अपने युग की किसी वास्तविकता की ओर संकेत करने वाली कविताएं मिथकशीलता के माध्यम से विशेष रूप से लिखी जा रही हैं। पुराने कवियों में पंत का 'सत्यकाम' (1975) उल्लेखनीय है। आधुनिक कथ्य को संप्रेषित करने में मिथकों की प्रतीकधर्मिता विशेष रूप से उपयोगी रही है। आधुनिक काव्य में मिथकों-प्रतीकों की पुनर्व्याख्या भी साथ-साथ मिलती है। जैसे—'मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क। उसके भी भीतर एक और कक्ष। कक्ष के भीतर एक गुप्त प्रकोष्ठ। और कोठे के सांवले गुहांधकार में मजबूत संदूक। दृढ़ भारी भरकम और संदूक में कोई बंद है। यक्ष

या कि ओराग उटांग यह। मुझमें भीतर छिपा हुआ है।

जहां तक नरेश जी का संबंध है, उन्हें सांस्कृतिक अभिरुचि से संबंधित मिथकशील कवि कहा जा सकता है। 'दूसरा सप्तक' के प्रसिद्ध कवि नरेश मेहता का काव्य संसार अपने प्रयोगों और मिथकीय चेतनाओं के कारण आधुनिक छायावादोत्तर कवियों में सबसे विलक्षण है। छायावाद के बाद के सभी कवि जहां अनास्था और परंपरा के विरोध के कवि हैं, वहीं नरेश मेहता ने परंपरा को मिथकीय बोध से जीवित बनाने का महान उद्योग किया। अपनी सांस्कृतिक प्रज्ञा के कारण वे सदा अविस्मरणीय छायावादोत्तर कवि कहे जायेंगे। मिथकों के कारण उनकी रचनाओं में एक दीप्ति आती है। उदाहरणार्थ जब वे जीवन के कर्म-रथ की वकालत करते हैं तो कर्म केवल अन्य कर्मों की भांति यथार्थ प्रयोजन और मूल्य चिंतन के परिवेश में ही अपनी काव्यात्मक पहचान प्रस्तुत नहीं करता, अपितु मिथ की भाषा के कारण एक नये ढंग के काव्य सौंदर्य की काव्यात्मक पहचान भी प्रस्तुत करता है :

कितने ही लघु हो
इससे क्या?/सार्थक है।/
स्वत्व है हमारा कर्म/

× × ×

हम केवल चलते हैं,/अपने में/
अपने से बाहर/धूप और अंधकार चीरे/
हम चलते हैं/
चलने पर/संभव है—
तीर्थ मिले कीर्त्ति मिले।
चामर की छांह मिले/संभव है—/
पसली में वाण फंसे/प्यासे ही दम तोड़े/
चीलों से आखिर तक/युद्ध करें जीवन हित/
संभव है/संभव है/सांकल से बंधे हुए।/
जेता के रथ में हम/जुटने को बाधित हों/
विजयी राक्षस गण/जीवित ही भून दें/किंतु/
किंतु यह असंभव है/बंधु! यह असंभव है/
कर्म और वर्चस्व को/छीन सके कोई भी।/
जब तक हम जीवित हैं।

नरेश मेहता उक्त मिथकीयता में इतने रचे बसे हैं कि बिना उसकी उपस्थिति के उनके काव्यात्मक मुहावरे निर्मित ही नहीं होते।

नरेश मेहता के काव्य में अन्य कवियों की भांति एक बयान नहीं होता, अपितु एक मार्मिक संवेदनशील शोक होता है। जो भारतीय संस्कृति के सामने कलंकित आचरण की

भांति निर्वसन होकर खड़ा रहता है। अति सार्वजनिकता के तथाकथित मायाजाल को तोड़ते हुए वे अपने समय की जनता को संबोधित करते हुए कहते हैं :

काव्य या करूणा/या किसी भी उदात्तता का/
तुम्हारे लिए शायद अब कोई अर्थ—नहीं रह गया है।
प्रत्येक में पदार्थ देखने वाली
तुम्हारी आंखों में इसलिए हिंस्रता चमक रही है
जिसे देखकर ये फूल
ये हवाएं/ये पंखियों के दल के दल/
तुम्हारी आंखों से ओझल हो जाना चाहते हैं।
देवदारू और भोजपत्र/किसी हवा के कारण नहीं/
बल्कि तुम्हारी उपस्थिति को लेकर चिंतित हैं।
क्योंकि तुम्हारे स्पर्श में/एक बधिक का भाव है।/
नदियां/अपने में पीतांबर लिए/
कैसी टूटी भागी जा रही हैं/
जैसे तुम उन्हें विवस्त्र करना चाहते हो।

इस तरह के उदाहरणों में भोजपत्र, पीतांबर, विवस्त्रीकरण जैसे प्रयोग मिथकीय भाषा के उदाहरण हैं। यहां मिथक नहीं मिथकों के संदर्भ आते हैं। नरेश मेहता के काव्य में मिथकों का स्थूल प्रयोग ही केवल काव्यात्मक उत्कर्ष का कारण नहीं है, अपितु मिथकों के सूक्ष्म संस्पर्श भी उनके काव्यात्मक उत्कर्ष के हेतु हैं। दूसरे शब्दों में मिथक उनकी कविता को केवल अपनी ठोस उपस्थिति से ही आलोकित नहीं करते बल्कि मिथकों की स्मृति ही उनके काव्य में कमल गंध की भांति महकती हैं।

नरेश मेहता की सबसे बड़ी शक्ति पुराणों के मिथों का अभ्यांतर साक्षात्कार है। वे उन मिथों के माध्यम से अनुभव के प्रकाश का काव्यात्मक पर्याय प्रस्तुत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक मिथों के अर्थ सहसा बदलकर काव्यानुभव का एक हिस्सा बन जाता है, जहां विभिन्न संदर्भ अपने समय का एहसास भी कराते हैं और उस समय का अतिक्रमण भी। सीमा के भीतर असीम की खोज करने वाली उनकी रचनाएं मिथ के दुर्ग को तोड़ कर उसे अनुभव की नदियों में तब्दील करती हैं। यह उनकी और उनके काव्य की अंतर्निहित विशेषता है। 'देवशिशु का जन्म' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं—

आज मैंने आश्चर्य के दर्शन किए/और/
वह देवशिशु का जन्म स्थान था।/
श्रावणी निरभ्र आकाश की नील वर्णता को
अनंत गहराइयां मिली हुई थीं/देखने मात्र से/
जिसे कलुषित हो जाने की आशंका थी/

ऐसे उस विष्णु आकाश में/
तपस्वी ब्राह्मण सा/अपनी प्रशाखाओं के केश खोले/
उस आकाशी समुद्र में निरानंद खड़ा था/
जैसे वह वर्ष हो/जो सावित्रियां धारण करता है।

गर्भ से निकले शिशु की भांति
सप्तमातृकाओं की खोज करता हुआ/देदीप्य आभा में/
पृथ्वी की ओर/अपने देवनेत्रों से प्रथम बार/
दिन देख रहा था।'

यद्यपि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक हिंदी काव्य में प्रकृति वर्णन हुआ है। किंतु मिथकीय आयाम द्वारा नरेश मेहता ने प्रकृति को जो नव्य दृष्टि दी वह अनुपलब्ध है। सूर का काव्य हो या जायसी का, प्रसाद का, हो या पंत का सभी कवि प्रकृति के बहाने अपने मन की गांठों को खोलते हैं, अपने भाव जगत का आरोपण प्रकृति पर करते हैं। यही कारण है कि वियोगावस्था में सूर की गोपियों को मधुबन की हरीतिमा पर भी संदेह होने लगता है—

'मधुबन तुम कत रहत हरे'

तो जायसी की नागमती को चौदह कलाओं के साथ प्रस्फुटित चांद भी दाहक प्रतीत होता है :

'चौदह कला चाँद परगासा, जनहु जरे सब धरती अकाशा,'

प्रसाद जी भी विभावरी के बीत जाने पर जब किसी को जगाते हैं तो उनके सामने 'खगकुल का कलकल' तो होता ही है, परंतु ध्यान में होती है आंखों में विहाग भरे अलकों में मलयज बंद करके सोयी हुई प्रियतमा।

पंत की बादल राग, नौका विहार, परिवर्तन आदि कविताओं में प्रकृति का प्रांजल चित्रण है लेकिन अंततः उनकी भी दृष्टि 'क्षुब्ध मानसिकता' वाली है। निराला की पहली रचना 'जूही की कली' तो शुद्ध रूप से प्रकृति का मानवीकरण है। यही वैयक्तिकता छायावादोत्तर कवियों के काव्य में भी दृष्टिगोचर होती है। कही चांदनी उसे विक्षिप्तावस्था में दिलासा देती है—

'दे रही कितनी दिलासा
आ झरोखे से जरा
चाँदनी पिछले पहर की पास में जो सो गयी है।'

तो कहीं चांद उसके साथ चलता हुआ प्रतीत होता है—

'मैंने देखा मैं जिधर चला
मेरे संग-संग चल दिया चांद'

प्रयोगवादी कवियों में अज्ञेय का काव्य प्रकृति चित्रण का एक भिन्न धरातल प्रस्तुत करता है—

फूल कचनार के
प्रतीक मेरे प्यार के
प्रार्थना सी अर्ध स्फुट कांपती रहे काली
पंक्तियों का संपुट, निवेदिता ज्यों अंजलि।
आये फिर दिन मनुहार के, दुलार के
फूल कचनार के।'

गिरिजा कुमार माथुर का काव्य भी प्रकृति के माध्यम से रूमानियत और श्रृंगारिकता को प्रकट करता है। इस लंबी परंपरा में नरेश मेहता की काव्य दृष्टि कुछ अलग पहचान रखती है। इसीलिए वे प्रेम वर्णन और प्रकृति वर्णन में एक अद्वितीयता का परिचय देते हैं, और उनके प्रकृति वर्णनों में मिथकीयता की गंध एक नयी हवा, नयी ताजगी, नयी रोशनी, नयी मिठास पैदा करती है—

माधवी के नीचे बैठा था
कि हठात् विशाखा हवा आयी
और फूलों का एक गुच्छ,
मुझ पर झर उठा
माधवी यह वृक्ष/मुझे आकंठ सुगंधित कर गया
उस दिन/एक भिखारी ने भीख के लिए ही तो गुहारा था
और/मैंने द्वारपचार में उसे क्या दिया?
उपेक्षा पुर तिरस्कार
और ढेर सारे अपशब्द।
मेरे वृक्षत्व के इन फूलों ने
निश्चय ही उसे कुछ तो किया ही होगा
पर सुगंधित फूल तो नहीं ही/सबका अपना वृक्षत्व है।

उनकी 'उबस' श्रृंखला की रचनाओं में प्रकृति का प्रांजल रूप प्रस्तुत किया गया है। कवि स्वयं कहता है, ऋतु की इस नित्य कौमार्य कन्या का मैं प्रतिदिन अपने क्षितिज पर आह्वान करता हूँ। उदाहरण के माध्यम से कवि की संस्कृति के शोध के प्रति आकांक्षा को लक्षित किया जा सकता है। निम्न पंक्तियों में उषा का एक मोहक वर्णन प्रस्तुत है—

किरणमयी तुम स्वर्ण देश में।
स्वर्ण देश में।
सिंचित है केसर के जल से
इंद्रलोक की सीमा,

आने दो सैंधव घोड़ों का
रथ कुछ हल्के धीमा
पूषा के नभ के मंदिर में
वरूण देव को नींद आ रही
आज अलकनंदा के तट पर
वंशी का संगीत गा रही
अभी निशा का छंद शेष है, अलसाये नभ के प्रदेश में।

यह पूरा प्रसंग 'प्रतीक देश' की प्राचीन संस्कृति से असंपृक्त है। निजी जीवन की कटु मधु वैयक्तिकता से ऊपर उठा हुआ कवि अपनी चेतना को उन प्रतीकों और परंपराओं के माध्यम से वाणी देता है, जहां उसे औपनिषदिक और वैदिक चेतना का संस्पर्श मिलता है, जहाँ प्रकृति के उन शाश्वत रूपों का दर्शन होता है, जो सदा से हमारे ऊर्ध्वोन्मुखी चेतना के स्रोत रहे हैं। जहां तक प्रेम संबंधी कविताओं का प्रश्न है मिथक शील कवि होने के कारण उनके व्यक्तिगत प्रेम संबंधी कविताओं में भी मिथ का प्रयोग सफलतापूर्वक हुआ है। अपनी 'दक्षिणावर्त्त नेत्र' कविता में प्रिया के सम्मोहनपूर्ण दृष्टि का सौंदर्य संसार प्रस्तुत करते समय भी दक्षिणावर्त्त शंख के मिथ का भी वे सुंदर उपयोग करते हैं :

तुम नहीं जानती होगी कि
तुम्हारे ये नेत्र
मात्र नेत्र ही नहीं
दक्षिणावर्त्त शंख जैसे अलभ्य अलंकार हैं
जब कि सोचने लगती हो
तो इस संपदा को
ऐसे खुले छोड़कर
कहां चली जाती हो?

विष्णु पुराण के अनुसार दक्षिणावर्त्त शंख जहां कहीं होता है वहाँ संपदाएं वास करती हैं। कवि नेत्रों के दक्षिणावर्त्त शंख द्वारा प्रिया के सौंदर्य संपदा का निर्वाचन करता है और इस मिथ विनियोग द्वारा रचना-सौंदर्य को द्विगुणित कर देता है।

संपूर्ण विश्व को संस्कृति के छंद में देखने का आग्रह नरेशं जी के काव्य का प्रधान स्वर है। ऐसा लगता है कि कवि प्राचीन मिथों और प्रतीकों को भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अध्ययन में आवश्यक मानता है और कर्म पर परमात्मा के माधुर्य गुण का पर्याप्त प्रभाव। उनकी रचनाएं आधुनिक हिंदी कविता के संवेदन से पूर्ण भागवत् और गीत गोविंद की मानसिकता की रचनाएं हैं। उदात्तीकरण उनका प्रधान तत्त्व है और वेद से लेकर पुराण पर्यंत मिथकों का सार-सर्वस्व उनका मुहावरा है। पारंपरिक मात्रा में मानवीय संवेदना को व्यक्त करने की उनकी काव्यात्मक शक्ति अमोघ है। वस्तुगत चेतना की जगह एक आत्मरूप ही

सनातन संस्कृति के विश्वासों में चिरस्थायी निधि रही है, और नरेश मेहता उस निधि को काव्यात्मक निधि बनाने में सफलतापूर्वक सचेष्ट रहे हैं।

वस्तुतः मानवीय संवेदन की प्रगाढ़ परंपरा जब पीढ़ियों के अनुभव की वस्तु बनती है तो मिथकीयता का जन्म होता है। भाषा की—विशेषकर रचनात्मक भाषा की खूबसूरत परिणति मिथों के रूप में सामने आती है। कवियों का हृदय भाषा के प्रति जितना ही जागरूक होता है, उतना ही मिथ-काव्य के सरोकार बनते हैं। सौभाग्य से नरेश मेहता उन संवेदनशील एवं जागरूक कवियों में से एक हैं, जिन्होंने छायावादोत्तर युग में भाषा की इस शक्ति को पहचाना और उसका काव्यात्मक विनियोग किया। प्रतीकों, बिंबों के सृजन के समान ही मिथों का विनियोग काव्य को, उसके प्रयोजन को, सारगर्भित बनाता है, उसे लावण्य प्रदान करता है। नरेश मेहता का काव्य संसार इसका अन्यतम उदाहरण है। □

संदर्भ

1. मिथकीय कल्पना और आधुनिक काव्य : डा. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
2. मिथक और आधुनिक कविता : शंभुनाथ
3. मिथक दर्शन का विकास : डा. वीरेंद्र सिंह
4. मिथक और साहित्य : डॉ. नगेंद्र
5. नरेश मेहता : कविता की उर्ध्व यात्रा : डॉ. रामकमल राय
6. छायावाद, विश्लेषण और मूल्यांकन : दीनानाथ शरण
7. भवंती
8. माडर्न साइकोलॉजी : डेविड काक्स
9. दि आरिजन हिस्ट्री ऑफ कांशेसनेस : इरिक न्यूमान
10. खुशबू के शिलालेख : भवानी प्रसाद मिश्र
11. दिमागी गुहांधकार का ओरांग : उटांग : मुक्तिबोध
12. नरेश मेहता : बोलने दो चीड़ को, संशय की एक रात, महाप्रस्थान, प्रवाद पर्व, उत्सवा और अरण्या।

वेदवती सिंह : समीक्षक, आलोचक। फिलहाल गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर के हिंदी-विभाग में अनुसंधान कार्य से जुड़ी हैं।

पत्रकार बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

डॉ. विजय अग्रवाल

स्वतंत्रताकालीन रचनाकारों के साथ अक्सर यह हुआ है कि उनकी रचनाधर्मिता के किसी एक पक्ष को प्रधानता दी गई है और उसके शेष पक्ष या तो द्वितीय श्रेणी के माने गए या कि उपेक्षित। ऐसी प्रवृत्ति के कारण किसी भी रचनाकार के व्यक्तित्व और चिंतन की पूर्णता को सही रूप में समझ पाना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव सा है। माखनलाल चतुर्वेदी का नाम मुख्य रूप से कवि के रूप में लिया जाता है और उनकी पत्रकारिता पूर्ण रूप से उपेक्षित कर दी गई है। कमोवेश यही स्थिति बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के साथ भी रही। उनके कवि पक्ष को आलोचकों ने इतना उभारा, और वह भी एकांगी रूप में उभारा कि उनकी पत्रकारिता का व्यक्तित्व पूरी तरह से दब कर रह गया। अब जबकि प्रमुख स्वतंत्रताकालीन रचनाकारों की संपूर्ण रचनाओं के संकलन के प्रयास किए जा रहे हैं, ऐसे समय में इन रचनाकारों के व्यक्तित्व के अन्य पहलुओं पर भी प्रकाश पड़ने की संभावनाएं बढ़ रही हैं। यह एक शुभ स्थिति है।

निःसंदेह बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत एक जोशीले कवि थे। 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल पुथल मच जाए' जैसी उनकी पंक्तियों ने अपने समय के लोगों में ऊर्जा भर कर उन्हें स्वतंत्रता आंदोलन से सीधे-सीधे जोड़ने में योगदान किया था। आजादी के बाद 'लपक चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को' जैसी पंक्ति ने उन्हें प्रगतिशील रचनाकारों की पंक्ति में खड़ा किया। 'नवीन' जी के कवि व्यक्तित्व का यह रूप जाना-पहचाना-सा है। लेकिन पत्रकारिता वाला पक्ष उनके कवि पक्ष की तुलना में किसी भी मायने में कम नहीं है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि पत्रकारिता की ही मजबूत पीठिका पर उनकी काव्य लता लिपटी और विकसित हुई।

'नवीन' जी की भी रचनाधर्मिता की शुरूआत कविता के साथ हुई थी। बचपन में वैष्णवी पिता के कीर्त्तन तथा माता के द्वारा गाए जाने वाले भजनों ने उनके मन में गेयता के प्रति एक प्राकृतिक आकर्षण पैदा कर दिया था। जीवन के कठिनतम संघर्षों से जूझते हुए सन् 1916 में जब उन्होंने लोकमान्य तिलक का लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में लोगों से भाग लेने का आह्वान पढ़ा तो उनका अल्हड़ मन बिना कुछ सोचे समझे लखनऊ के लिए निकल पड़ा। 'नवीन' जी ने इस घटना को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हुए स्वयं स्वीकार किया है कि "1916 में जब मैं 10वें दर्जे में था एक ऐसा युग आया जिसके कारण मेरा समूचा जीवन बदल सा गया।" यहां 'नवीन' जी की मुलाकात माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति गणेशशंकर विद्यार्थी से हुई। इसी समय 'नवीन' जी गणेश शंकर विद्यार्थी के विशेष कृपा पात्र बने और विद्यार्थी जी ने कानपुर

के स्थानीय क्राईस्ट चर्च कालेज में उन्हें प्रवेश दिला दिया। इसके साथ ही वे विद्यार्थी जी द्वारा निकाले जाने वाले पत्र 'प्रताप' में भी काम करने लगे।

गणेशशंकर विद्यार्थी तथा 'प्रताप' के संपर्क में आने के साथ ही 'नवीन' जी के सार्वजनिक, पत्रकारिता तथा क्रांतिकारी जीवन की शुरूआत हुई। 'प्रताप' को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने लोकमान्य तिलक के 'केसरी' और 'मराठा' की क्रांतिकारी पत्रकारिता के आदर्श की हिंदी में शुरूआत की। नवीन जी के लिए 'प्रताप' की यह विचारधारा बिल्कुल उपयुक्त थी। जब तक विद्यार्थी जी 'प्रताप' के संपर्क में रहे, तब तक 'नवीन' जी उसमें संपादकीय तथा अग्र लेख आदि लिखा करते थे। सन् 1923 में उन्हें राजनीतिक और साहित्यिक मासिक पत्रिका 'प्रभा' के संपादक का दायित्व सौंप दिया गया। इसके फलस्वरूप 'नवीन' जी का अधिकांश समय इन्हीं कार्यों में लगने लगा। अपने शेष समय का उपयोग वे कांग्रेस संगठन तथा श्रमिक आंदोलनों में भाग लेने के लिए करते थे। 'प्रताप' और 'प्रभा' से जुड़ने के बाद 'नवीन' पत्रकारिता में इतने व्यस्त हो गए थे कि साहित्यिक लेखन के लिए उनके पास अवकाश नहीं रहा। अब स्थिति यह हो गई कि उनका साहित्यिक लेखन तभी हो पाता था जब वे जेल में होते थे। उनके प्रसिद्ध महाकाव्य 'उर्मिला' का प्रारंभ उनकी प्रथम जेल यात्रा से हुआ था जिसका समापन सन् 1932 में फैजाबाद की पांचवीं जेल यात्रा में हुआ।

इस बीच 'नवीन' की छिटपुट साहित्यिक रचनाएं 'प्रताप' और 'प्रभा' में छपती रहती थीं। 'प्रभा' के एक अगस्त 1920 के अंक के मुख पृष्ठ पर 'नवीन' जी की 'अंतरिक तंत्री' शीर्षक से कविता प्रकाशित हुई। पहले 'प्रभा' का प्रकाशन खंडवा से होता था लेकिन बाद में इसका प्रकाशन कानपुर से होने लगा। 'नवीन' जी को इसका यह लाभ हुआ कि इसमें उनकी गद्य रचनाएं एवं कविताएं प्रकाशित होने लगीं।

लेकिन यह रचनाधर्मिता का मुख्य भाग नहीं था। 'प्रताप' में 'नवीन' जी अनेक अग्र लेख लिखा करते थे। हालांकि वे लेख उनके अपने नाम से नहीं होते थे, फिर भी अपनी भाषा की विशिष्टता के कारण उनके लेख पहचाने जाने लगे थे। बाद में जब कानपुर के सांप्रदायिक दंगे में 29 मार्च, 1931 को 'प्रताप' के संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी जी की हत्या हो गई, तब 5 अप्रैल, 1931 को 'नवीन' 'प्रताप' के संपादक बने और इस प्रकार एक राजनीतिक पत्रिका का स्वतंत्र संपादक का दायित्व उनके ऊपर आया।

'प्रताप' ने 9 नवंबर, 1913 के अपने प्रथम अंक में अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि समस्त मानव जाति का कल्याण हमारा परम उद्देश्य है और इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक बहुत बड़ा और जरूरी साधन हम भारत की उन्नति को समझते हैं। 'नवीन' जी ने संपादक बनने के बाद 'प्रताप' के इस उद्देश्य के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की। 'प्रताप' के 15 नवंबर, 1931 के अंक के संपादकीय में 'उन्नीसवें वर्ष' शीर्षक के अंतर्गत उन्होंने लिखा कि 'हम अपने आपको उस महापुरूष का उत्तराधिकारी कहने में संकोच करते हैं। अपने जीवन के 14 वर्षों तक हमें उनके श्रीचरणों में बैठकर उनके स्नेह,

वात्सल्य, प्रेम और सौहार्द्र का प्रसाद पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ऐसे महापुरूष के आदर्शों का उत्तराधिकारी होना कोई आसान काम नहीं है। गणेशशंकर के साहचर्य, सद्गमन और अनुगमन ने इतना जरूर सिखलाया कि आदर्श प्राप्ति के लिए प्राण न्यौछावर करने से हिचकना मानव धर्म के विपरीत है। इसलिए 'प्रताप' अपने आदर्शों से नहीं डिगेगा। अपने अस्तित्व को विनष्ट होते देखकर भी 'प्रताप' सेवा और साधना के मार्ग से कदापि विचलित नहीं होगा।' कहना न होगा कि 'नवीन' जीवन भर अपने इन उद्देश्यों से विचलित नहीं हुए। 'प्रताप' का अपना इतिहास इस बात का गवाह है कि अपनी उग्र शैली के कारण इसके संपादक को जेल जाना पड़ा, इसे बड़े जुर्माने देने पड़े, यहां तक कि उसे कई बार पत्र का प्रकाशन तक स्थगित करना पड़ा, लेकिन 'नवीन' अपने उद्देश्य से किंचित भी नहीं डिगे।

स्वाभाविक रूप से 'प्रताप' में राजनीतिक विषयों की प्रधानता होती थी, जैसेः 'कांग्रेस का अधिवेशन', 'इंपीरियल कांफ्रेंस और भारत', 'महात्मा जी और मजदूर सरकार' आदि। किंतु चूंकि विद्यार्थी जी शुद्ध पत्रकार नहीं बल्कि एक साहित्यिक पत्रकार थे, इसलिए उनके समय में साहित्यिक लेखों की संख्या बढ़ने लगी। अब राजनीतिक विषयों के साथ-साथ 'पद्म सिंह शर्मा के संस्मरण', 'सांची पर यात्रा विवरण', 'तुर्गनेव का गद्य काव्य', 'जगन्नाथपुरी यात्रा विवरण', तथा 'सूर्य का वास्तविक रंग सौंदर्य' के साथ ही साथ साहित्य पर समालोचना भी प्रकाशित होती थी।

'नवीन' जी ने अपने समय में कुछ स्थाई स्तंभों की भी शुरूआत की थीः जैसे 'देश और विदेश की महत्वपूर्ण बातें', 'ताजे समाचार', 'कुछ फुटकर विचार' आदि। इन सभी स्तंभों की सामग्री अत्यंत रोचक किंतु सूचनाप्रद होती थी। 'नवीन' जी चाहते थे कि देश और विदेश की बातें आम लोगों तक पहुंचे। इसके लिए उन्होंने गंभीर विचार प्रधान लेखों का सहारा न लेकर अपनी बात को हल्के-फुल्के ढंग से कहने की प्रणाली का सहारा लिया। वे मनोरंजन प्रधान घटनाओं के माध्यम से लोगों को देश की सही स्थिति से अवगत कराते थे, ताकि लोगों के मन में अंग्रेज शासक, राजा-महाराजे तथा सामंतों के प्रति विक्षोभ का भाव पैदा हो और वे सीधे-सीधे राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ सकें। उस समय के कुछ शीर्षक ऐसे थे—'देशी नरेशों की कुछ मनोरंजक बातें', 'भारतीय राजाओं के खजाने', 'सोने की तोपें और जवाहरातों के ढेर', 'मारवाड़ की जागीर', 'प्रजा की पुकार', 'लखपति के प्रसाद में', 'अफीमची चीन कैसे जागा' आदि।

चूंकि इस समय तक स्वतंत्रता आंदोलन के क्षितिज पर गांधी जी पूरी तरह से छा चुके थे, इसलिए 'नवीन' जी के संपादकत्व में 'प्रताप' ने जहां एक ओर गांधी जी के आंदोलन का समर्थन किया, वहीं दूसरी ओर लोगों को गांधी जी के विचारों से अवगत भी कराया। गांधी जी के जीवन के महत्वपूर्ण प्रसंगों पर भी लिखा गया। इसके साथ ही पं. नेहरू, मदनमोहन मालवीय, सुभाषचंद्र बोस, कमला देवी चट्टोपाध्याय, कमला नेहरू आदि के चित्र भी पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित किए गए।

'नवीन' के 'प्रताप' ने स्वतंत्रता आंदोलन के प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य में अपनी वैचारिक

भूमिका निभाई। जब वे 'प्रताप' के स्वतंत्र संपादक बने थे, तब गोलमेज सम्मेलन हो रहा था। इस सम्मेलन का विरोध करते हुए 'प्रताप' ने अपने संपादकीय में लिखा कि 'इस तरह दासता की जंजीरें नहीं तोड़ी जा सकतीं।' सरदार भगत सिंह और सुखदेव जैसे क्रांतिकारियों का 'नवीन' जी ने समर्थन किया तथा सामंतों एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा देश के मजबूर और किसानों पर किए जाने वाले अत्याचारों का जम कर विरोध किया। जब दी इंडियन प्रैस एमरजैन्सी पावर एक्ट 1931 पारित हुआ, तब अन्य समाचार पत्रों के साथ ही साथ 'प्रताप' ने भी संपादकीय और टिप्पणियों के प्रकाशन को स्थगित कर दिया। बाद में इस कानून के अंतर्गत 'नवीन' को 5 जुलाई, 1931 के अंक में प्रकाशित एक लेख के अपराध में 8 माह के कठोर कारावास का दंड दिया गया।

सन् 1915 के आस-पास भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक तत्वों का प्राधान्य होने लगा था। 'प्रताप' ने आरंभ से ही देश में पनप रही सांप्रदायिकता का विरोध किया। 'प्रताप' के 13 मार्च, 1938 के अंक में 'हम दानवों के सामने न झुकेंगे' शीर्षक से संपादकीय में 'नवीन' ने साफ-साफ लिखा था हमारी तमाम कोशिशों के बाद भी सांप्रदायिकता का दानव बारंबार अपना सिर उठाता है, अपनी भयंकर कुरूपता और भीषण बर्बरता को लेकर अपने स्वाशोच्छ्वास से वातावरण को विषाक्त करते हुए। हमारे रक्त के बूंद-बूंद में दानव घुस आया है। हमें इस सांप्रदायिक दानव से लड़ना है। यह हमारे शरीर का क्षय करता है। हमें एक ऐसे राष्ट्रीय यज्ञ का विधान करना होगा जो इस क्षय को दूर कर सके। हमें शैतान से लड़ने की पूर्ण तैयारी करनी होगी। 'प्रताप' ने अपने अनेक अंकों में राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन देने तथा सांप्रदायिकता के विरूद्ध जनमत तैयार करने वाले लेख एवं टिप्पणियां प्रकाशित कीं।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की असफलता के बाद 1932 में कांग्रेस ने फिर सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ किया। 'नवीन' जी ने इस आंदोलन को अपना समर्थन दिया। इसी समय 11 मार्च, 1933 को ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत के भावी शासन से संबंधित सुधारों का श्वेत पत्र प्रकाशित किया गया। सभी भारतीय नेताओं के साथ 'नवीन' ने भी इस श्वेत पत्र का विरोध किया। बाद में जब भारत सरकार अधिनियम, 1935 बना तब 'प्रताप' ने इसका विरोध करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा कि पूर्ण स्वतंत्रता से कम कुछ भी देश को संतुष्ट नहीं कर सकता। लेकिन बाद में जब इस अधिनियम के अंतर्गत भारत के 11 प्रांतों की विधान सभाओं का चुनाव निश्चित हुआ तब 'नवीन' के नेतृत्व में 'प्रताप' इस चुनाव को स्वतंत्रता संग्राम का एक हिस्सा मानकर कांग्रेस की सफलता के लिए प्रचार का एक प्रभावशाली माध्यम बना।

इसके कुछ ही वर्षों बाद जब द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ हुआ, तब भी 'प्रताप' ने कविताओं और लेखों के माध्यम से ब्रिटिश युद्ध विरोधी अपना अभियान जारी रखा। सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के प्रारंभ होते ही प्रेस पर जो नियंत्रण लगाया गया, उसके अंतर्गत 9 अगस्त को कानपुर के 'प्रताप' कार्यालय और उसके संपादक के मकान की

तलाशी ली गई और उसके अंक को जब्त कर लिया गया। इसके विरोध में 'नवीन' ने 'प्रताप' का प्रकाशन स्थगित कर दिया, जिसका पुनः प्रकाशन 1945 में संभव हो सका। इसके बाद 'नवीन' ने 'प्रताप' के माध्यम से आजाद हिंद फौज की शौर्य गाथा को जनता तक पहुंचाया तथा मुस्लिम लीग और कैबिनेट मिशन की निंदा की। 'नवीन' के साहस और निर्भीकतापूर्ण पत्रकारिता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वे अपने लेखन के ही कारण सन् 1920 से 47 के बीच 6 बार जेल गए और कुल 9 वर्ष तक जेल में रहे।

'नवीन' की पत्रकारिता की मुख्य देन यह रही कि उन्होंने 'प्रताप' की विषय-वस्तु को समकालीन हिंदी पत्रों की तुलना में अधिक व्यापक बनाया। उनमें एक साथ देश की राजनीति, अंतर्राष्ट्रीय जगत की घटनाओं, गांधी और मार्क्स के विचार, कांग्रेस की नीतियां, साम्राज्यवाद का विरोध, समाजवाद का समर्थन, राष्ट्रभाषा के प्रति दृष्टिकोण तथा साहित्य एवं कला संबंधी विस्तृत जानकारियों के साथ-साथ मनोरंजन का भी अच्छा मिश्रण मिलता है। इसके साथ ही साथ 'प्रताप' में विज्ञापनों के लिए भी पर्याप्त स्थान होता था। समाचार-पत्र के कुल स्थान का 1/3 अंश विज्ञापनों के लिए सुरक्षित होता था। 'नवीन' के समय में विज्ञापनों की भाषा पहले की अपेक्षा अधिक मर्यादित हो गई थी। भाषा की यह मर्यादा समाचार-पत्रों के शीर्षकों में भी दिखाई पड़ती है। अब ये शीर्षक अपेक्षाकृत विनम्र तथा साहित्यिक संस्कार लिए हुए होने लगे थे।

वैचारिक स्तर पर 'नवीन' अपने को मार्क्सवाद के अधिक निकट पाते थे। उन्होंने 'प्रताप' में मार्क्सवाद के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को बार-बार दोहराया है। मार्क्स, लेनिन और स्टालिन के अनेक चित्र तथा उनके जीवन और विचारों से संबंधित अनेक लेख प्रकाशित किए गए। 'प्रताप' के 3 जून, 1945 के अंक में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा कि हम रूस के प्रेमी हैं ... स्टालिन के प्रति हमारी असीम श्रद्धा है ... रूस मानवता के शोषक के सर्वनाश का, समझौता एवं सौहार्द्र स्थापित करने का, एक नवीनतम संस्कृति और मानव सभ्यता का तेज पुंज प्रतीक है।' इसके साथ ही 'नवीन' की वैचारिक प्रतिबद्धता भारतीय संस्कृति और गांधी के साथ भी थी। 'प्रताप' के जुलाई, 1942 के अंक में उन्होंने लिखा कि इस युग के दो सर्वश्रेष्ठ महान शार्दुलों ने मानव समाज को मुक्ति का, शांतिमय जीवन व्यतीत कर सकने का मार्ग अपनाया है। वे महापुरूष हैं—गांधी और लेनिन। गांधी ने मानव को संदेश दिया कि वह ऊंचा उठे, अपनी निम्नगामी प्रवृत्तियों के आकर्षण पर विजय पाए। लेनिन ने संदेश दिया कि मानव ऊंचा उठे, आज के पूंजीवादी वैज्ञानिक औद्योगिकता की उलझनों, विडंबनाओं और तत् अंतस्थ विफलताओं पर विजय पाकर। दोनों के महान संदेशों को नैतिक व्यवहार एवं सामाजिक कार्य संचालन में बरते बिना भावी विश्व का, शांति का स्वप्न देखना वैसा ही है, जैसा कि कोढ़ के रहते हुए शरीर के रक्त की पूर्ण शुद्धता की आशा करना। इस प्रकार 'नवीन' की राजनीतिक विचारधारा में एक अच्छा संतुलन देखने को मिलता है, जिसका प्रभाव उनकी पत्रकारिता पर पड़ा और उनकी पत्रकारिता कोई भी अतिवादी दिशा अख्तियार करने से बच सकी।

'नवीन' चूंकि एक साहित्यिक-पत्रकार भी थे, इसलिए उनकी पत्रकारिता में संपादन कला, विषयों का चयन, वाक्य-विन्यास, कहने का ढंग तथा भाषा में साहित्य और पत्रकारिता का द्वंद्व देखने को मिलता है। कवि हृदय होने के कारण उनकी पत्रकारिता की भाषा में स्वाभाविक रूप से एक भावुकता और तरलता मिलती है। उनकी आरंभिक पत्रकारिता की भाषा संस्कृतनिष्ठ है और शैली भावुकता प्रधान है। लेकिन 'नवीन' इस बात से परिचित थे कि ऐसी भाषा के माध्यम से वे अधिक-से-अधिक लोगों तक नहीं पहुंच सकेंगे। इसलिए उनका यह प्रयास रहा कि वे अपनी भाषा को आम लोगों की भाषा के करीब ला सकें।

साहित्यिक पत्रकार होने के नाते 'नवीन' की भाषा आलंकारिक भाषा है। अनेक ऐसे स्थल हैं जहां रूपक अलंकार को निभाने के कारण उनकी पत्रकारिता की भाषा किसी साहित्यिक लेख का एक अंश बन गई है।

'नवीन' ने अपनी भाषा को पत्रकारिता की भाषा में तब्दील करने के लिए कुछ विशेष तरीकों का सहारा लिया। ये तरीके थे—बोलचाल की भाषा, लोक जीवन के शब्द, अंग्रेजी एवं उर्दू के शब्द, अंग्रेजी के शब्दों का हिंदी अनुवाद, लेख के बीच-बीच में कविता का उल्लेख, प्रश्नवाचक शैली का प्रयोग तथा पाठकों को लेख से जोड़े रखने के लिए नई शैली अपनाना। इन उपायों का प्रयोग कर 'नवीन' ने अपनी एक नई भाषा और शैली विकसित की। □

डॉ. विजय अग्रवाल : हिंदी से एम. ए. और 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में सामंती जीवन' पर पी-एच.डी.। शोध ग्रंथ प्रकाशित। साहित्य, संस्कृति, भाषा, फिल्मों पर अनेक लेख प्रकाशित।

संप्रति : राष्ट्रपति के निजी सचिव।

संपर्क : एक्स-वाई 30, सरोजिनी नगर, नयी दिल्ली-110023

कला

भारतीय कला की गांधार शैली

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव

प्राचीनकाल में गंधारं पश्चिमोत्तर भारत का एक प्रमुख राज्य था। यह राज्य पश्चिम में आधुनिक अफगानिस्तान से लेकर पूर्व में पाकिस्तान तक फैला हुआ था। इस भूभाग में ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में एक विशेष कला-शैली का आविर्भाव हुआ जिसे उस क्षेत्र के नाम पर गांधार शैली या गांधार कला कहा गया। गांधार कला की विषय-वस्तु भारतीय बौद्ध धर्म थी और इसके कलाकार यूनानी थे जिन्होंने यूनानी कला-शैली में बुद्ध-बोधिसत्त्व की अनेक मूर्तियों का अंकन किया था। इसीलिए इस कला-शैली का एक और नाम पड़ा 'इण्डो-ग्रीक आर्ट'।

प्राचीनकाल में मथुरा से शाकल या स्यालकोट, तक्षशिला, पुष्कलावती, नगरहार और कपिशा होकर बाह्लीक या बैक्ट्रिया तक जाने वाला मार्ग उत्तरापथ कहलाता था। कुषाण-नरेश कनिष्क के समय में यह मार्ग पुरूषपुर या पेशावर से भी जुड़ गया था। सिकंदर के बाद गंधार क्षेत्र में यूनानी बस्तियां तो थीं ही, आगे चलकर बैक्ट्रिया के यूनानी शासकों ने भी इस क्षेत्र में अपना अधिकार और शासन स्थापित किया था। कनिष्क के समय गंधार से लेकर मथुरा तक का विस्तृत भूभाग व्यापारिक और सांस्कृतिक गतिविधियों से निरंतर विकसित हो रहा था। इस युग में गंधार की सीमाएं पूर्व में चीन से, उत्तर में मध्य एशिया से और पश्चिम में पार्थिया से जा मिली थीं। अतः इस क्षेत्र में इन-इन देशों के बीच व्यापारिक संपर्क स्थापित हुए। व्यापारिक संपर्क से खान-पान, वेश-भूषा, भाषा और धर्म एक-दूसरे पर अपना प्रभाव डालते हैं। यही उस काल में धर्म के क्षेत्र में हुआ। संपूर्ण गंधार क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार हो गया। परिणामस्वरूप वहां की कला में भी बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा और एक नई गांधार शैली का विकास हुआ।

नगरहार या जलालाबाद, उद्यान या स्वात नदी की घाटी, कपिशा या बेग्राम, बमियान, हड्डा, ओहिंद, शाहजी की ढेरी, तख्त-ए-बाही, पुरूषपुर या पेशावर, पुष्कलावती या चारसद्द, सहरी बइलोल, माणिक्याल और तक्षशिला आदि गांधार कला के प्रमुख केंद्र थे। यहां से बौद्ध कथानकों पर आधारित अनेक मूर्तियां और शिलापट्ट पाए गए हैं। वस्तुतः गांधार कला के अवशेष मध्य एशिया से लेकर मथुरा तक मिले हैं। इस समय गांधार कला के अधिकांश अवशेष पेरिस-स्थित संग्रहालय और पाकिस्तान-स्थित लाहौर तथा पेशावर-संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं। भारत तथा अमरीका के भी कई संग्रहालयों में गांधार-कलाकृतियां संग्रहीत हैं।

दीपंकर जातक में नगरहार का उल्लेख मिलता है। यह नगरहार ही आज का जलालाबाद है। वहां का बौद्ध स्तूप तो नष्ट हो गया है पर उसके अण्ड का कुछ भाग और आधार अभी शेष है जिसमें बने आलों या ताकों पर मूर्तियां सजाई गई थीं। हड्डा के प्रसिद्ध स्थान टप्पा कलां के ध्वस्त विहार से भी गांधार कलाकृतियां पाई गई हैं। बमियान में प्राप्त अनेक बौद्ध गुफाएं, विहार और चट्टानों में उत्कीर्ण बुद्ध की विशाल मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। बुद्ध की एक मूर्ति की ऊंचाई 35 मीटर तथा दूसरे की 53 मीटर है। तख्त-ए-बाही से गांधार में गढ़ी बुद्ध-बोधिसत्त्व की सैकड़ों मूर्तियां मिली हैं। पेशावर का स्तूप अत्यंत महत्वपूर्ण था जिसका उल्लेख चीनी यात्रियों फाह्यान और ह्वेनसांग ने किया है। चीनी यात्रियों के अनुसार यह स्तूप 638 फीट ऊंचा और 18 मंजिल का था। पेशावर जिले में स्थित शाह जी की ढेरी का कनिष्क द्वारा बनवाया स्तूप तो नष्ट हो चुका है परंतु उसका बचा हुआ 286 फीट घेरे का आधार उस स्तूप की विशालता का साक्षी है। स्पूनर को इसी स्तूप से पौने आठ इंच ऊंची गोल और ढक्कनदार तांबे की एक अस्थिपेटिका मिली थी। इसके ऊपर बीच में बुद्ध और उनकी अगल-बगल बोधिसत्वों की मूर्तियां हैं। पेटिका पर उत्कीर्ण अभिलेख से उस पेटिका के यूनानी कारीगर 'अगिशल' के नाम का पता चलता है। तक्षशिला पूर्वी गंधार की राजधानी था और विद्या तथा कला का प्रमुख केंद्र था। कुषाण-नरेश कनिष्क के समय यह अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर था। मार्शल ने भिर, सिरकप और सिरसुख नामक तीन टीलों से तक्षशिला के ध्वंसावशेषों को खोज निकाला था। भिर नामक स्थान पर मौर्यकाल में धर्मराजिका स्तूप का निर्माण और शक-कुषाणकाल में उसका पुनर्निर्माण हुआ था। इसके ध्वंसावशेषों से चूना-मिट्टी के गंधार शैली में बने अनेक बुद्ध-मस्तक मिले हैं। पश्चिमी गंधार की राजधानी पुष्कलावती के अवशेष चारसद्द् में पाए गए हैं जिनमें अनेक गांधार बौद्ध-मूर्तियां भी हैं। तक्षशिला के निकट जौलियान तथा चारसद्द् के निकट सहरी बहलोल में विहारों तथा स्तूपों के ध्वंसावशेष गांधार शैली की बौद्ध मूर्तियों से अलंकृत पाए गए हैं।

सहरी बहलोल से मिली आठ फीट आठ इंच ऊंची खड़ी बुद्ध-मूर्ति गांधार कला की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में गिनी जाती हैं। संपूर्ण सुरक्षित इस मूर्ति के मस्तक पर ऊर्णा, गोल प्रभा-मण्डल, अभय-मुद्रा और कंधों से लहराती चुन्नटदार संघाटि दर्शनीय है। कहा जाता है कि होती-मरदान से मिली बुद्ध-मूर्ति गांधार कला में आंकी गई पहली बुद्ध-मूर्ति है। इस मूर्ति का मुख यूनानी देवता अपोलो से मिलता-जुलता है। इस प्रकार की अनेक मूर्तियां पाई गई हैं। बुद्ध का एक अत्यंत शालीन मस्तक लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम में है। इसके अर्द्धनिमीलित नेत्र, लहरियादार केश-उष्णीथ तथा ऊर्णा उल्लेखनीय हैं। बर्लिन-संग्रहालय की शांतमुद्रा में ध्यानमग्न बुद्धमूर्ति, कलकत्ता संग्रहालय में महापरिनिर्वाण वाला फलक तथा सहरी बहलोल से मिली कुबेर-हारीति की संयुक्त मूर्ति भी गांधार कला की उत्कृष्ट कृतियां हैं। माध्यम के रूप में गांधार कला में पत्थर, चूना-मिट्टी और धातु का प्रयोग किया गया था। नीले और भूरे स्लेटी पत्थर का उपयोग बहुतायत से हुआ है जो स्वात और

बुनेर की घाटियों में उपलब्ध था और मुलायम होने के कारण शिल्पांकन के लिए बहुत उपयुक्त भी था। प्रारंभ से लेकर दूसरी शताब्दी ई. तक प्रायः पत्थर ही गांधार कला का माध्यम था। उसके बाद तीसरी-चौथी शताब्दियों में प्रायः चूना-मिट्टी या स्टकों से कलाकृतियों का निर्माण किया गया था। अनेक मूर्तियां और शिल्पांकित अस्थिपेटिकाएं धातु से भी बनाई गई थीं।

गांधार कला की विषय-वस्तु मुख्यतः बौद्ध धर्म से संबंधित है। कुषाणकाल में गंधार क्षेत्र में बसे यूनानी कलाकारों ने अपने मूल देश से कोई प्रेरणा पाए बिना ही बौद्ध धर्म के विविध कथानकों पर अपनी छेनी चलाई थी। उन्होंने बुद्ध, बोधिसत्त्व, अन्य देवी देवताओं, जैसे—कुबेर और हारीति की मूर्तियों और विभिन्न जातक कथाओं का अंकन किया। प्रस्तर-फलकों पर उन्होंने बुद्ध के जीवन तथा उनके धर्म की प्रमुख घटनाओं को रूपायित किया। इनमें मायादेवी की लुंबिनी वन यात्रा, बुद्ध-जन्म, महाभिनिष्क्रमण, संबोधि, मार-विजय, धर्मचक्र प्रवर्तन, महापरिनिर्वाण आदि प्रमुख हैं। स्पष्टतः गांधार कला धर्म की दृष्टि से बौद्ध कला है।

गांधार कला की कुछ प्रमुख विशेषताएं उल्लेखनीय हैं जैसे इस शिल्प का माध्यम मुख्यतः स्लेटी पत्थर और प्रेरणा-स्रोत बौद्ध धर्म था। गांधार शैली की मूर्तियों के बैठने अथवा खड़े होने के आसन तथा मुद्राएं सभी कुछ भारतीय हैं किंतु उनकी छवि यूनानी हैं। उनकी लहरियादार केश-सज्जा और सलवटेंदार भारी-भरकम वस्त्र-विन्यास है। यदा-कदा मूंछें भी दिखाई गई हैं। उनके नाक-नख्श और वस्त्र-विन्यास यूनानी परंपरा पर बनाए गए हैं। गांधार कला की मूर्तियों में शारीरिक सौष्ठव पर अधिक ध्यान दिया गया है, मुख-मुद्राओं और भाव-भंगिमाओं पर कम। समानुपातिक और स्वस्थ शरीर वाली इन बौद्ध मूर्तियों की मुख-मुद्रा प्रायः भाव-शून्य है। गांधार कला की बुद्ध-मूर्तियां शैली की दृष्टि से यूनानी भले ही लगती हों, किंतु सिद्धांत और प्रतिमा-लक्षण की दृष्टि से भारतीय परंपरा का ही अनुसरण करती हैं। दूसरे शब्दों में, उनकी काया यूनानी किंतु आत्मा भारतीय है।

गांधार और मथुरा दोनों कलाकेंद्र कुषाण राज्य में थे और महायान का प्रभाव किसी क्षेत्र विशेष में सीमित तो था नहीं। इसलिए गांधार और मथुरा कला शैलियों को तुलनात्मक दृष्टि से देखना अप्रासंगिक न होगा। गांधार कला का माध्यम भूरा स्लेटी पत्थर था जबकि मथुरा कला का माध्यम चित्तीदार लाल बलुआ पत्थर था। गांधार कला की विषय-वस्तु मुख्यतः बौद्ध धर्म से ही संबंधित थी जबकि मथुरा कला में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण सभी धर्मों से संबंधित मूर्तियों का अंकन किया गया था। गांधार कला में आकृति के अनुपात, सुडौलता और अंग-सौष्ठव पर जबकि मथुरा कला में मुख-मुद्राओं और भाव-भंगिमाओं को उजागर करने पर अधिक जोर दिया गया था। गांधार कला के बुद्ध-बोधिसत्व के मुख पर यदाकदा मूंछें भी दिखाई गई हैं जबकि मथुरा कला में कभी नहीं। गांधार कला में सलवटेंदार भारी-भरकम वस्त्र दिखाए गए हैं जबकि मथुरा में हल्के, झीने और चुन्नटदार वस्त्र उकेरे गए थे। पाश्चात्य विद्वान बुद्ध की प्रथम मानव मूर्ति के अंकन का श्रेय प्रायः

गांधार कला को देते आए हैं। उनका तर्क यह है कि भारतीय परंपरा में बुद्ध की मानव मूर्ति का अंकन और पूजन वर्जित था। इसीलिए शुंग-सातवाहन काल में बुद्ध की उपस्थिति दर्शाने के लिए भारतीय कलाकार ने आसन, बोधिवृक्ष, चक्र, त्रिरत्न, स्तूप आदि कई प्रतीकों का सहारा लिया था। परंतु पश्चिमोत्तर भारत में स्थित गांधार क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रचलित हो जाने तथा महायान विचारधारा के विकसित हो जाने से विदेशी कलाकारों ने उक्त वर्जना की अवहेलना करके बुद्ध की मानव मूर्तियों का निर्माण किया और तब उसी के अनुकरण पर मथुरा में भारतीय कलाकारों ने भी बुद्ध-मूर्तियों को गढ़ना प्रारंभ कर दिया।

किंतु भारतीय कला और धर्म के परम विद्वान स्वर्गीय वासुदेवशरण अग्रवाल की मान्यता है कि बुद्ध की पहली मानव मूर्ति का निर्माण भारतीय शिल्प-परंपरा के आधार पर मथुरा में ही किया गया था। उनके अनुसार मथुरा में प्रथम शताब्दी ई. के प्रारंभ में ही बुद्ध-मूर्तियां आंकी जा चुकी थीं जबकि गांधार शैली में उनका अंकन प्रथम और तृतीय शताब्दियों के बीच हुआ था। डा. अग्रवाल का कहना है कि यदि बुद्ध की प्राथमिक मूर्तियां गांधार कला में विदेशी कलाकारों द्वारा विदेशी प्रभाव में गढ़ी गई होतीं तो उनमें बौद्ध प्रतिमा-लक्षण के चित्र जैसे पद्मासन, ध्यानमुद्रा, नासाग्रदृष्टि, सिंहासन, ऊर्णा, उष्णीष, विद्याधर, पुष्प-वर्षा,चामारग्राहिणी आदि कैसे और कहां से आ गए? वे मौर्य-शुंगकालीन यक्ष-यक्षियों की स्वतंत्र मूर्तियों से प्रेरित बुद्ध-बोधिसत्त्व की प्रारंभिक मूर्तियों के आकलन और उनके निरंतर विकास की संभावना भारतीय पृष्ठभूमि में ही मानते हैं।

इस संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि मथुरा तथा गांधार दोनों कला केंद्र कनिष्क के राज्य में थे और इसलिए महायान के प्रभाव के कारण दोनों ही स्थानों पर लगभग एक साथ ही बुद्ध की प्राथमिक मानव मूर्तियों की सर्जना की गई है।

भारतीय कला में मथुरा शैली के बाद दूसरा महत्वपूर्ण स्थान गांधार कला-शैली का है जो भारतीय और यूनानी कला-परंपराओं के समिश्रण से विकसित हुई थी और जिसके नए अभिप्रायों और प्रतिमानों से परवर्ती काल की भारतीय कला ने विकास के कई नए सोपान चढ़े थे। □

सांची का कला वैभव

मदनगोपाल शर्मा

मध्यप्रदेश में दिल्ली बंबई रेलमार्ग पर बीना और भोपाल के मध्य स्थित, विदिशा जिला मुख्यालय का एक छोटा सा नगर, सांची बौद्ध वास्तुकला के अनुपम वैभव का एक विशिष्ट उदाहरण है। वैसे तो बौद्ध स्तूप देश के अनेक भागों में स्थित हैं पर सांची के स्तूपों की

बात ही कुछ और है। ये भारत के सबसे सुंदर स्तूपों में से हैं तथा इनका कलात्मक एवं पुरातात्विक दृष्टि से विरल महत्व है।

लगभग 91 मीटर ऊंची रेतीले पत्थर की छोटी सी पहाड़ी पर सांची की कलाकृतियां बिखरी पड़ी हैं, जो दो हजार से अधिक वर्षों से भगवान बुद्ध का पावन संदेश सुना रही हैं। हालांकि सांची का संबंध भगवान बुद्ध के जीवनकाल से नहीं रहा है और अति प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में भी सांची का उल्लेख नहीं मिलता। लगता है कि सांची के स्तूपों व अन्य कलाकृतियों का निर्माण सम्राट अशोक के शासन काल में हुआ था। गौतम बुद्ध के जीवन की घटनाओं, जातक कथाओं एवं बौद्ध धर्म के इतिहास की प्रमुख घटनाओं का चित्रण अत्यंत मनोहारी ढंग से इसी काल में हुआ था।

सांची का दुर्भाग्य यह रहा कि इस गौरवमय स्थल के बारे में सन् 1818 से पहले किसी को कुछ भी पता न था। कोई नहीं जानता था कि यह अपूर्व वैभव कहां छिपा है और कैसा है? सबसे पहले सन् 1818 में जनरल टेलर ने इन बौद्ध स्मारकों की ओर जनता तथा इतिहासविदों का ध्यान आकर्षित किया। इससे लोगों में अपार कौतूहल जागृत हुआ तथा खुदाई का कार्य प्रारंभ हुआ। कुछ लोगों ने धन प्राप्ति की लालसा में गुपचुप खुदाई कर इन स्मारकों को नुकसान भी पहुंचाया। आगे चलकर सही दिशा में कार्य हुआ और संरक्षण मिला। आज इन स्तूपों को देखकर भारत के अतीत के गौरव का अनुमान लगाया जा सकता है।

सांची के स्मारकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वे स्मारक जो पहाड़ की चोटी पर स्थित हैं और दूसरे वे जो पहाड़ी की पश्चिमी ढलान पर यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं।

महास्तूप

यह सांची का प्रमुख स्तूप है। यह मूल रूप से ईंटो से बना था। इसका व्यास 36.60 मीटर तथा छत्रावली को छोड़ इसकी ऊंचाई 16.46 मीटर है। चारो ओर प्रदक्षिणार्थ लगभग चौदह फीट ऊंची मेधि है। यहां पहुंचने के लिए दोनों ओर सीढ़ियां हैं। स्तूप के चारो ओर भूमि की सतह पर प्रदक्षिणा पथ पर प्रवेश के लिए चारों दिशाओं में अलंकृत तोरण द्वार हैं। सांची के ये तोरण द्वार विश्व प्रसिद्ध हैं तथा बौद्ध कालीन वास्तुकला के अनुपम नमूने हैं साथ ही स्तूप के सबसे सुंदर भाग हैं।

चारो तोरण द्वारों में दक्षिण तोरण सर्वाधिक सुरक्षित है। अन्य तोरण भग्न स्थिति में हैं। प्रत्येक तोरण द्वार में दो चौकोर स्तंभ लगे हैं। स्तंभों के शिखर पर चार सिंह, चार हाथी और चार बौने बने हुए हैं जो अपने सिरों पर कुंग्लाकार किनारों वाली तीन वक्र शिरदलों को उठाए हुए हैं। इन तोरण द्वारों पर बड़ी कुशलता के साथ मूर्तियां, जातक कथाएं एवं बुद्ध के जीवन से संबंधित घटनाएं उकेरी गई हैं, जिनकी भाव-भंगिमाएं बहुत स्वाभाविक हैं।
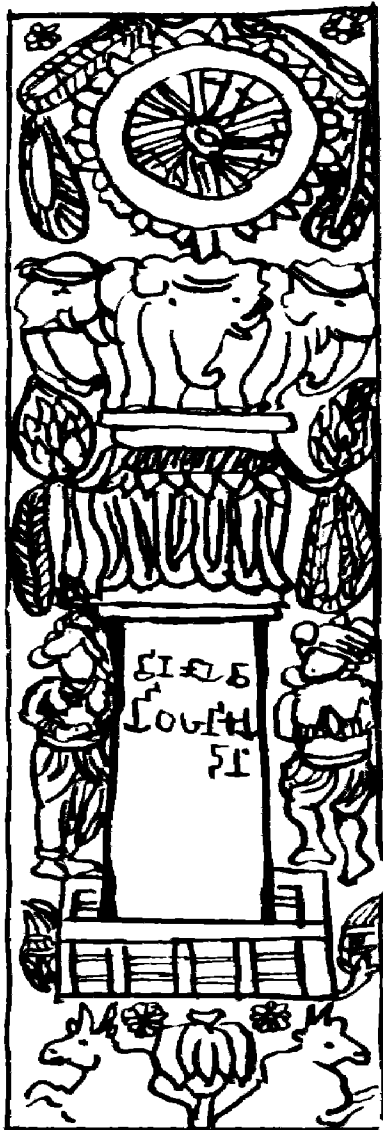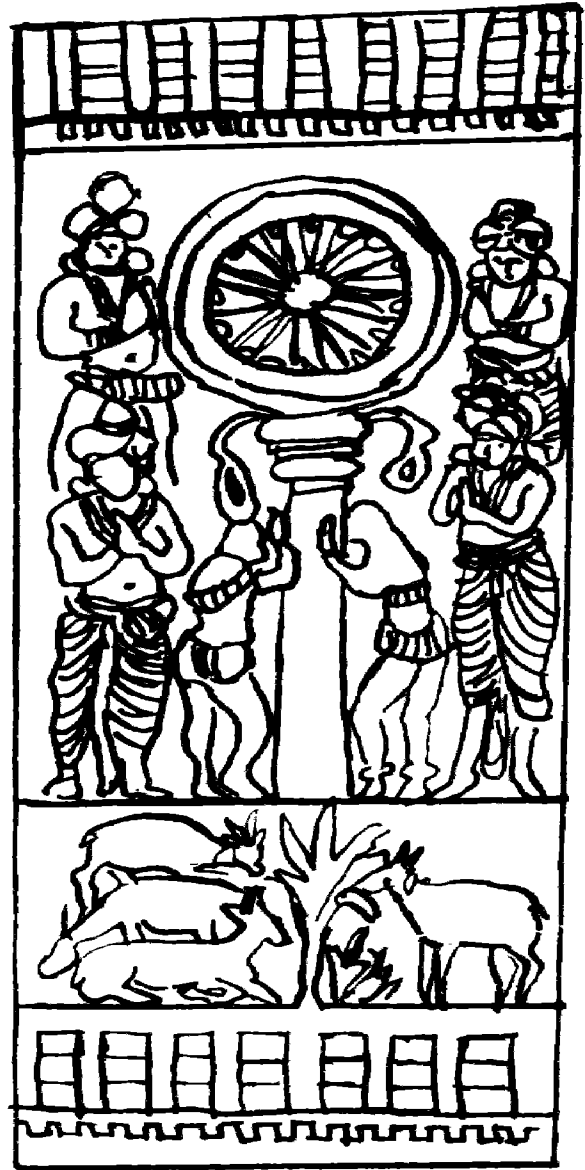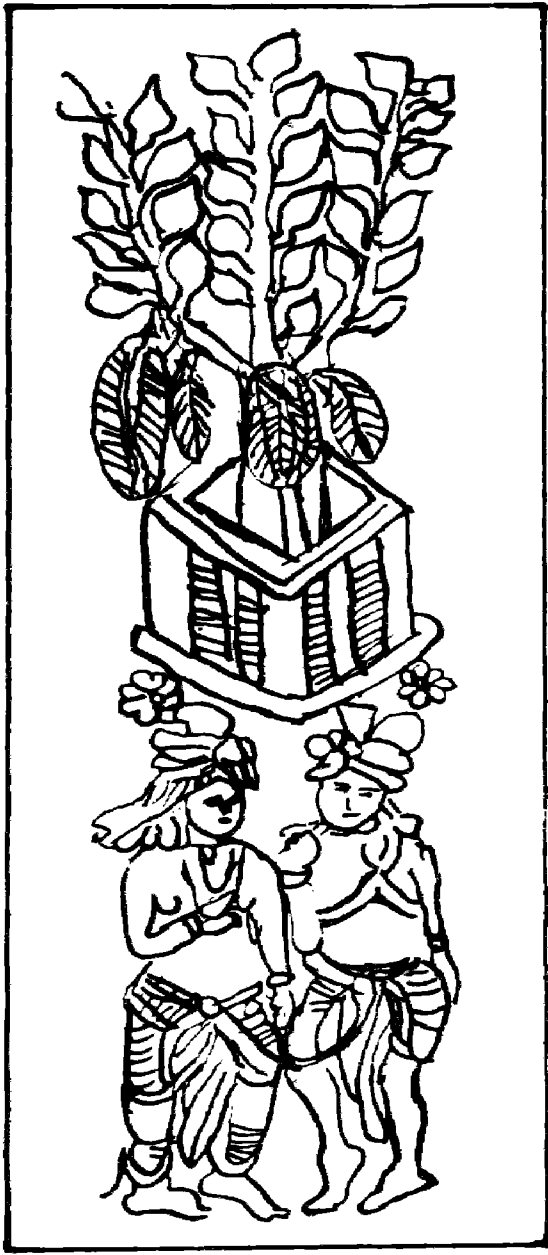
साँची की स्थापत्य कला के कुछ नमूने

स्तूप संख्या दो

अव्यवस्थित उत्खनन कार्य के कारण यह स्तूप अपने मूल रूप में सुरक्षित नहीं हैं इसकी वेदिका में कमल और हाथियों को विविध रूपों में उत्कीर्ण किया गया है। इस स्तूप पर अंकन स्वतंत्र रूप से किया गया है, कुछ ऐसे सिंह भी उकेरे गए हैं जिनके पंख हैं, कुछ सिंह ऐसे भी हैं जिनका मुंह मनुष्य जैसा है। इस स्तूप से निकले कुछ भाग संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

स्तूप संख्या तीन

यह स्तूप महास्तूप के निकट उत्तर-पूर्व दिशा में लगभग 150 फुट में स्थित है। इसकी ऊंचाई पैंतीस फुट है और व्यास भी लगभग 50 फुट है, केवल एक ही तोरण द्वार है। इस तोरणद्वार के स्तंभों पर बुद्ध देव के जीवन के प्रसंग या जातक कथाएं अंकित नहीं हैं बल्कि आयताकार टुकड़ों में स्तूप चक्र बोधिवृक्ष तथा उपासना दृश्य उकेरे गए हैं।

इन तीन स्तूपों के अतिरिक्त कुछ छोटे आकार के स्तूपों के खंडहर भी हैं, जिनके भग्नावशेष देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कभी ये स्तूप भी अपनी पूर्व गरिमा के साथ स्थित थे। कुछ मंदिर व मंडप भी बने हुए थे। कुछ स्तंभ भी बने थे। जो आजकल संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये स्तंभ मौर्यकाल के बताए जाते हैं। ये स्तंभ व अन्य शिल्प कृतियां पुरातात्विक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

सांची की उत्कृष्ट कलाकृतियां देश की पुरा संपदा की अनुपम धरोहर हैं, इसके साथ सम्राट अशोक की स्मृतियां जुड़ी हुई हैं तथा बौद्ध स्थापत्य कला संपूर्ण और भव्य रूप में यहां बिखरी पड़ी हैं। यहां की प्राकृतिक सुरम्यता भी अत्यंत मनोहारी है। ऐसा लगता है मानो प्रकृति ने स्वयं अपने हाथो यहां का श्रृंगार किया हो। खिरनी और ठाक के जंगलों से घिरी यह पहाड़ी अनायास ही दर्शकों के मन को मोह लेती है। शिल्प रचना में प्रवीण शिल्पकारों ने तो सचमुच कमाल ही कर दिखाया है। उकेरी गई मूर्तियों में कोमलता व कमनीयता की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। महाकवि रवींद्रनाथ टैगोर ने सांची की तुलना कालिदास की कविता से की थी। सचमुच यहां आकर दर्शक आत्म विभोर हो जाता है तथा यहां का सौंदर्य और रमणीयता उसके मानस पटल पर छा जाती है। □

मदनगोपाल शर्मा : पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर लेखन। कुछ पत्रों का संपादन। आजकल केंद्रीय लेखा परीक्षा विभाग में काम कर रहे हैं।
संपर्क : 60 अनुपम नगर, ग्वालियर-464011

आस्थावान चिंतक की कलम से

अमरेंद्र मिश्र

आस्था और चिंतन सुपरिचित कथाकार विवेकी राय के पच्चीस निबंधों की किताब है। विवेकी राय हिंदी साहित्य में कहानीकार व उपन्यासकार के रूप में तो चर्चित हैं ही, निबंधकार व चिंतक के रूप में भी उनका बड़ा स्थान है। यह अलग किंतु महत्वपूर्ण बात है कि श्री राय के निबंधों में भी उनका कथाकार साथ रहा है—शरीर और परछाई की तरह। इन निबंधों में जहां एक ओर विवेकी राय ने हिंदी के अमर कथाशिल्पी प्रेमचंद के लमही गांव को याद किया है और उनके महत्त्वपूर्ण 'गोदान' पर अलग से लिखा है वहीं दूसरी ओर वे 'सूर काव्य में लोक चेतना' पर हमारा ध्यान खींचते हैं और तीसरी ओर कबीर के योग, ज्ञान, भक्ति पर हमें सोचने को विवश करते हैं। भारतीय साहित्य में नारी और अकाल के चपेट में पड़े गांवों की दुर्दशा पर भी उन्होंने लिखा है।

हिंदी के आंचलिक उपन्यासों पर बहुत लिखा गया है। आलोचकों ने हिंदी के प्रथम आंचलिक उपन्यास के रूप में रेणु के 'मैला आंचल' को लिया है। विवेकी राय विस्तार में जाते हुए स्पष्ट करते हैं कि डॉ. प्रताप नारायण टंडन इसका आरंभ आचार्य शिवपूजन सहाय की कृति 'देहाती दुनिया' (1925) से मानते हैं और डॉ. सत्यपाल चुघ निराला की कृति 'बल्ले सुर बकरिहा' से मानते हैं। कुछ आलोचक आंचलिकता की इस प्रवृत्ति को चार-पांच दशक और पीछे ले जाते हैं। किंतु उपर्युक्त उपन्यासों में या कतिपय पूर्व की औपन्यासिक कृतियों में जो अनगढ़पन दिखायी देता है, रेणु ने तराशे हुए रूप में नए ढंग से 'मैला आंचल' को प्रतिष्ठित किया अतः वे सूत्रधार बने। आंचलिक उपन्यासों में स्थानीय रंग को अधिक महत्व दिया गया है और बिहार के पूर्णिया, मध्य प्रदेश के बस्तर से लेकर पूर्वी उत्तर प्रदेश, बुंदेलखंड, छत्तीसगढ़, राजस्थान, महाराष्ट्र, तिब्बत, मणिपुर, अंडमान, आदि की प्रादेशिक इकाइयां अपनी पृथक अंतरंग-बहिरंग झलकियों के साथ प्रस्तुत की गयी हैं और इसे प्रदेश स्तर तक ही मापना पर्याप्त नहीं है। संपूर्ण भारतीय साहित्य में विश्व साहित्य के समानांतर इस आंचलिकता के पीछे सांस्कृतिक पुनरूद्धार की एक प्रवृत्ति क्रियाशील प्रतीत होती है। जिस प्रकार हार्डी में इंग्लैंड का वेसेक्स अंचल और विलियम फाकनर में अमरीका के दक्षिणी अंचल अपने समस्त रसगंधों के साथ उभरते हैं उसी प्रकार रेणु में पूर्णिया अंचल, गणेशनारायण दांडेकर (मराठी) में बराड़ अंचल, सतीनाथ भादुड़ी में बंग अंचल और झुबेरचंद मेघाणी (गुजराती) में सौराष्ट्र अंचल उजागर होते हैं। हिंदी साहित्य में उदयशंकर भट्ट, शैलेश मटियानी,नागार्जुन, वृंदावनलाल वर्मा, रामदरश मिश्र, विवेकी

राय, भैरवप्रसाद गुप्त, देवेंद्र सत्यार्थी, बालशौरि रेड्डी, राही मासूम रजा जैसे उपन्यासकारों ने आंचलिक साहित्य को समृद्धि प्रदान की है।

प्रेमचंद के लमही गांव को विवेकी राय ने एक अनुसंधान के स्तर पर उठाया है। एक स्वाभाविक प्रश्न उठ सकता है कि लमही का माने क्या है? किंवदंती है कि इस गांव में पहले पतली मुंजवान का जंगल जैसा था और उसमें लोमड़ियां बहुत रहती थीं। शायद उसी लोमड़ी से लमही बना। पर विवेकी राय ऐसा नहीं मानते और संतों की नगरी काशी का यह अत्यंत 'नियरही' स्थान आध्यात्मिक उलटबांसी व्यंजना में लमही हो गया क्या? अवश्य ऐसा ही है, यह मानकर जनमोर्चा वालों के रखे 'प्रेमचंद नगर' को पसंद नहीं करते। वे लमही को सिर्फ लमही के रूप में देखना पसंद करते हैं। शत-प्रतिशत मौलिक गांव—एक संन्यासी गांव जिसकी अपेक्षा कुछ भी नहीं होती है। वह होरी-धनिया का गांव है। वही सब। सब कुछ वही।

लमही में विचरते हुए निबंधकार प्रेमचंद को 'गोदान' के माध्यम से याद करता है—'एक कोने में तुलसी का चबूतरा है। दूसरी ओर जुआर के ठेठों के कई बोझ दीवार से लगाकर रखे गए हैं। बीच में पुआल के गट्ठे हैं। समीप ही ओखल है, जिसके पास कूटा हुआ धान पड़ा है। खपरैल पर लौकी की बेल चढ़ी हुई है और कई लौकियां ऊपर चमक रही हैं। दूसरी ओर एक ओसारी में गाय बंधी है।'

विवेकीराय कहते हैं कि प्रेमचंद ने ऊपर की पंक्तियों में तुलसी के चबूतरे से प्रारंभ किया और गाय पर समाप्त किया। बीच के उपकरण भी भरपूर लोकजीवन की आहट देते हैं। कथाकार अच्छी तरह अपनी कला को निखार देने के लिए 'गोदान' में उस प्रकरण को ही केंद्र बनाता है जो गोधन से जुड़ा है। भारतीय संस्कृति और लोक-संस्कृति दोनों में गो-सेवा एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण आचार है। कृति का आरंभ ही गाय की इच्छा से होता है। जमींदार के यहां जाते हुए होरी सोचता है कि एक गाय जरूर लेगा। उसकी खूब सेवा करेगा। गऊ से ही तो द्वार की शोभा है। सबेरे-सबेरे गऊ के दर्शन हो जाए तो क्या कहना। जाने वह साध कब पूरी होगी? कब वह शुभ दिन आवेगा?

'आस्था और चिंतन' के निबंधों में विवेकी राय ने साहित्य, समाज, नारी, भूख, अकाल, पर्यावरण, शिक्षा जगत के अनेक प्रश्नों को उठाते हुए विस्तृत कैनवास पर अपना चिंतन परक मंतव्य दिया है। ये विषय हमारे ही मनोजगत के हैं, हमारे बहुआयामी विचार जगत के हैं और रोजमर्रा के जीवन में हम इनसे साक्षात्कार करते चलते हैं। वे कहीं तो हिंदी के अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य को आंकते हुए स्वदेश में उसकी स्थिति पर चिंता प्रकट करते हैं कहीं शिक्षा की स्थिति को देख एक आक्रामक रूख अख्तियार करते हैं। "तीस वर्ष से हम यही सोच रहे हैं कि किस भाषा में पढ़ें। शायद जानबूझकर किसी गहरी साजिश में सीधी चीजों को उलझा दिया जा रहा है। उर्दू-अंग्रेजी की उठा-पटक भी सामान्य समझ के बाहर है। हिंदी को अनंतकाल तक संपर्क भाषा में विकसित करते चलने की इस पैंतरेबाजी

को हम राष्ट्रीय शिक्षा नीति कहते हैं। भीतर से अंग्रेजी छाती जा रही है और बाहर से 'अंग्रेजी हटाओ' जैसे आंदोलन अब भी हो रहे हैं।'' इसलिए इस पर निष्पक्ष राय कायम करने की बहुत जरूरत है।

महाप्राण निराला का स्मरण करते हुए विवेकी राय उन्हें राष्ट्रीय आकांक्षा के साथ जोड़ते हैं। जिस युग में निराला 'जागो फिर एक बार' लिख रहे थे उस युग में नव जागरण की एक व्यापक प्रक्रिया चल रही थी। 'उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहां जो सोवत है' की प्रभात फेरी चल रही थी— *'जागो फिर एक बार'* निराला का एक जागरण गीत है। राष्ट्रीय आंदोलन की कालावधिका संपूर्ण जीवंत परिवेश 'जागो फिर एक बार' में चित्रित है। इसमें राजनीतिक चेतना का साक्षात्कार है।

इस संग्रह के एक महत्त्वपूर्ण निबंध 'पाठकीय रूचि : परिवर्तन या अवमूल्यन' में विवेकी राय पाठकों की निरंतर घटती संख्या पर चिंता प्रकट करते हैं। यह एक रोचक निबंध है और इसके पढ़ने से पाठक की रूचि किधर जा भटकी है इसका पता चलता है। साहित्य आज कितना पढ़ा जा रहा है यह सवाल पत्र-पत्रिकाओं के लगातार बंद होते जाने का उत्तर नहीं तो क्या है? ☐

अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय विज्ञान

इस ग्रंथ को सात अध्यायों में समेटा गया है—विषय प्रवेश के अंतर्गत आधुनिक जीवन में साइंस के महत्व को बताया गया है—विशेषकर औद्योगिक विकास में इसका अधिक योगदान है। प्राचीन वैश्विक सभ्यताओं—मिश्र, बेबीलोन, भारत के सर्वांगीण विकास में भी विज्ञान की भूमिका रही है। विज्ञान उतना ही प्राचीन है जितना हमारा समाज। पर प्राचीनकाल में विज्ञान के विकास में सृष्टि की उत्पत्ति से संबंधित सिद्धांतों का भी विशेष महत्व रहा है। सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसके मूलभूत पदार्थों की व्याख्या के क्रम में विकसित दार्शनिक सिद्धांतों में ऐसी अनेक वैज्ञानिक अवधारणाओं का उल्लेख मिलता है जिसका आधुनिक भौतिक व रसायन विज्ञान में विशेष महत्व है। इस दिशा में सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वान आर. गोर्बे ने 'द फिलोसोफी ऑफ ऐंशियंट इंडिया' (1987) शिकागो, में प्रयास किया। इस क्षेत्र में भारतीय विद्वान बी. एन. सील का महत्व भी कम उल्लेखनीय नहीं है—उनकी किताब 'पॉजिटिव साइंसेज आफ ऐंशियंट हिंदूस' (1925) से इस दिशा में सहायता मिलती है।

अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय विज्ञान पुस्तक की आधारभूमि (क) भारतीय वैज्ञानिक अवधारणाओं के विकास का अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्यमें अध्ययन, (ख) विभिन्न संस्कृतियों में वैज्ञानिक अवधारणाओं की समानांतर उत्पत्ति एवं विकास का अध्ययन (ग) वैज्ञानिक तथ्यों के विकास में संस्कृति विशेष की प्राथमिकता का अध्ययन (घ) वैज्ञानिक अवधारणाओं का एक से दूसरी संस्कृति के प्रसार का अध्ययन पर टिकी है।

विश्व के मानचित्र पर विशेष भौगोलिक स्थिति के कारण प्रागैतिहासिक काल से ही भारत का विश्व की अनेकानेक संस्कृतियों के साथ संपर्क आरंभ हो गया था। हड़प्पा संस्कृति का संपर्क सुमेर के साथ जल-स्थल दोनों मार्ग से स्थापित था। सुमेर के अभिलेखों में 'मलुहा' नामक भारतीय बंदरगाह का उल्लेख मिलता है जहां से जहाज दिल्मन (बहरीन) होते हुए मेकान (सुमेर) को पहुंचते थे। इन संस्कृतियों के मध्य लकड़ी, आबनूस, हाथी-दांत, वस्त्र, सजावट के सामान आदि वस्तुओं का व्यापार होता था। इसी काल में बलूचिस्तान एवं अफगानिस्तान के मार्ग से होकर भारतवर्ष का संपर्क उत्तर-पूर्व ईरान से भी स्थापित था। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर यह ज्ञात होता है कि भारत का संपर्क उत्तर पूर्व ईरान एवं अनाउ से था।

दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. में भारतवर्ष का संपर्क एशिया माइनर की कैसाइट्स एवं हिटाइट संस्कृतियों के साथ स्थापित हुआ। इस कालखण्ड में अनेक यूनानी यात्रियों ने भारतवर्ष की यात्रा की जिनमें मेगस्थनीज एवं डेमिकास के नाम उल्लेखनीय हैं। दोनों ही देशों के मध्य राजदूत भेजने की परंपरा चंद्रगुप्त मौर्य के काल से लेकर अशोक के समय तक देखी जा सकती है। पाटलिपुत्र के लकड़ी के महल को यूनानी कला से प्रभावित माना गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के सिरिक्स शब्द के आधार पर मत व्यक्त किया गया है कि भारतीयों ने सुरंग बनाने की कला यूनानियों से सीखी। सेल्युकस के काल में भी दोनों देशों के मध्य राजनीतिक संबंध स्थापित था। जिसकी पुष्टि स्ट्रैबो और प्लुटार्क के उल्लेखों से होती है।

दूसरी शताब्दी ई. पू. के आसपास व्यापारिक और राजनीतिक स्तर पर भारत से चीन का प्रत्यक्ष संबंध सुदृढ़ हुआ। उल्लेख मिलता है कि चीनी राजदूत चांग किएन ने बैक्ट्रिया में चीनी बांस वृक्षों को देखा था जो वहां भारतवर्ष से होते हुए पहुंचे थे। हूण समस्या को सुलझाने के लिए दान (200 ई.पू.) ने असम और बर्मा के मार्ग से भारतवर्ष के साथ संपर्क स्थापित किया था। ईसा की प्रथम शताब्दी में चीन में बौद्ध धर्म के प्रवेश के साथ-साथ इस संपर्क ने धार्मिक स्वरूप ग्रहण करना आरंभ किया। कालांतर में इसी से प्रभावित होकर अनेक चीनी यात्रियों ने भारतवर्ष की यात्रा की जिनमें फाह्यान, ह्वेनसांग एवं इत्सिंग तो इतिहास पुरूष हो गए हैं। बौद्ध धर्म के प्रचार के सिलसिले में अनेक भारतीयों ने भी चीन की यात्रा की—65 ई. पू. में वहां इसी उद्देश्य से एक बौद्ध धर्म संघ की स्थापना की गयी थी। चीन की यात्रा करने वाले भारतीय विद्वानों में मातंगा और कुमारजीव (शासक) का नाम उल्लेखनीय है। चीन के बाद भारत वर्ष का संपर्क कुषाण संस्कृति से हुआ। भारत पर हुए कुषाण आक्रमण (50 ई.पू.) ने भारतवर्ष के सांस्कृतिक-राजनैतिक इतिहास में एक नवीन अध्याय जोड़ने का काम किया। यद्यपि धर्मप्रचार के क्षेत्र में अशोक द्वारा भारतवर्ष का संपर्क तीसरी शताब्दी ई. पू. के ही लगभग श्रीलंका, बर्मा, मध्यएशिया एवं दक्षिण पूर्व एशिया की संस्कृतियों के साथ स्थापित हो गया था। किंतु पहली शताब्दी के लगभग व्यापारिक धरातल पर यह संपर्क और भी अधिक सुदृढ़ हुआ।

कुषाण काल में इन स्थानों में अनेक भारतीय धर्म संघों की स्थापना की गयी। दक्षिण पूर्व एशिया की संस्कृतियों में बर्मा, सुमात्रा, बेर्नियोजावा, मलाया आदि स्थानों में ब्राहमण तथा बौद्ध धर्म के प्रचार के माध्यम से संपर्कों में और निकटता आयी।

इस पुस्तक के चौथे अध्याय में गणित के विकास पर चर्चा की गयी है। भारतवर्ष की हड़प्पा संस्कृति के उत्खनित साक्ष्यों से उस काल के गणितीय ज्ञान के स्तर की जानकारी होती है साथ ही वेदों, संहिताएं, ब्राह्मणों, शुल्बग्रंथों वेदांग—आदि वैदिक कालीन ग्रंथों से भी भारतीय गणित पर प्रकाश पड़ता है। वेदांग ज्योतिष में गणित विज्ञान को समस्त अध्ययनों में श्रेष्ठ बताया गया है। भारतीय संस्कृति में भी गणित को बहुत महत्व दिया गया। जैन तथा बौद्ध ग्रंथों से भी भारतीय गणित पर प्रकाश पड़ता है जिनमें चंद्र प्रज्ञप्ति, स्थानांगसूत्र, अनुयोगद्धार सूत्र, भगवती सूत्र, उत्तराध्यायन सूत्र, विनय पिटक, दीघ निकाय, दिव्यावदान आदि के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं। भारतीय गणित के विकास के सैद्धांतिक काल में प्रविष्ट होने पर भारतीय आचार्यों—आर्यभट्ट प्रथम (499 ई. पू.) ब्रह्म गुप्त (598 ई.) भास्कर (प्रथम (600 ई.) महावीर (850 ई.) आर्यभट्ट द्वितीय (950 ई.) एवं भास्कराचार्य (1114 ई.) आदि ने गणित के विकास में पर्याप्त योगदान किया। इस काल में यहां पर आर्यभटीय-ब्राह्मस्फुट सिद्धांत, खंड खाधक, सिद्धांत शिरोमणि, गणित सार संग्रह जैसे गणित के उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना हुई जिसने भारतीय गणित को नवीन दिशा प्रदान की। यद्यपि भारतवर्ष में प्रायोगिक आधार पर गणितीय ज्ञान का प्रयोग हड़प्पा संस्कृति के काल से ही प्रारंभ हो गया था पर लिपि की अनभिज्ञता के कारण अभी तक इस पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ पाया है। वैदिक काल में भारतीय अंकगणितीय ज्ञान पूर्णतया मौलिक एवं तुलनात्मक रूप से विकसित दिखायी पड़ता है। अंकों एवं अंकपद्धति को आधुनिक रूप में पहुंचाने का श्रेय तो भारतीयों को ही है पर इस क्षेत्र में विकास का पहला प्रयास मिश्र और बेबीलोन वालों ने किया था।

खगोल शास्त्र का विवेचन पांचवें अध्याय का शीर्षक है। ज्योतिष को भी प्राचीनतम विषयों की सूची के अंतर्गत रखा जाता है। इसके विकास में मुख्यतः मिश्र, बेबीलोन, चीन, यूनान और भारत का स्थान है। ज्योतिष अध्ययन का प्रारंभ तृतीय सहस्त्राब्दी (ई. पू.) के लगभग मिश्र, बेबीलोन, भारतवर्ष में हुआ एवं द्वितीय सहस्त्राब्दी ई. पू. में इसके अध्ययन के क्षेत्र में चीनियों का प्रवेश हुआ। छठी शताब्दी ई. पू. में ज्योतिष के अध्ययन में यूनानियों ने रूचि लेना शुरू किया और ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग पहुंचते-पहुंचते उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर विषय को सैद्धांतिक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय अर्जित किया। सिकंदर के आक्रमण (327 ई. पू.) के फलस्वरूप स्थापित भारत यूनानी संपर्क के माध्यम से भारतवर्ष में वैज्ञानिक सहकार का मार्ग प्रशस्त हुआ और भारतीय ज्ञान के विकास के सैद्धांतिक काल में यहां पर ज्योतिष की अभूतपूर्व उन्नति हुई। भारतीय ज्योतिष के विकास के इस चरण में चीन, ईरान तथा अरब के लोग भी संपर्क में आए जिनमें अरबों ने भारतीय ज्ञान को यूरोप में प्रसारित करने का कार्य किया।

इस प्रकार सातवें अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति पर वैज्ञानिक विवेचन आया है और उपसंहार के बाद यह ग्रंथ समाप्त हो गया है। भारतीय वेद, उपनिषद, ज्योतिष, गणित, सृष्टि जैसी 'जिज्ञासा' की संपूर्ति में यह एक पठनीय साहित्य है।

गद्य में कविता की बात

शमशेर बहादुर सिंह कवि के रूप में सुपरिचित नाम हैं। लगभग आठ कविता संग्रहों के द्वारा वे हिंदी साहित्य में एक शिखर कवि के रूप में जाने जाते हैं। किंतु गद्य लिखकर भी उन्होंने अपनी पहचान गद्यकार के रूप में हिंदी जगत को दी है। 'कुछ गद्य रचनाएं' शीर्षक से वर्ष 1989 में एक किताब आयी थी और उसके बाद 'कुछ और गद्य रचनाएं' इस वर्ष प्रकाशित होकर आयी है। 'एक बिल्कुल पर्सनल एसे' से आरंभ किया जाए तो पता चलता है कि शमशेर अपने कुछ प्रिय कवियों को उनकी कुछ विशेषताओं, शक्ति और सीमाओं के साथ याद करते हैं। नागार्जुन को वे इसलिए प्यार करते हैं क्योंकि आज के अत्यंत सस्ते, खोखले दंभ के युग में उनकी कविताएं कीमती दस्तावेज हैं। केदारनाथ अग्रवाल अन्याय के खिलाफ और मेहनत के पक्ष में बेझिझक बोलते हैं। उनके व्यंग्य में दोहरी तिहरी धार नहीं एक सीधी धार है। त्रिलोचन शास्त्री के विषय में उनका मानना है कि उनमें सृजन की अपार, अकूत, अतुलनीय शक्ति है। उनमें गहराई को छूने, मर्म को सांस्कृतिक अर्थ में पकड़ने की बड़ी सहज क्षमता है।

त्रिलोचन में अद्‌भुत काव्य शक्ति है, इस अर्थ में कि अगर वह 'सॉनेट' लिखने लगें तो एक ही बार सात सौ सॉनेट लिख जाएंगे और गजल लिखने लगें तो पांच सौ गजलें लिखकर ही दम लेंगे। शमशेर बहादुर सिंह त्रिलोचन के शिल्प और शैली पर विचार करते हुए यह मानते हैं कि इस क्षेत्र में उनकी जो कमजोरी है वह दूर हो सकती थी पर भाषा और शैली पर इनके दृष्टिकोण में एक तरह का कट्‌टरपन और कठोरता है फिर भी वे त्रिलोचन की सौ चीजों को अच्छे से अच्छे शिल्पी की रचनाओं के समकक्ष रखने की वकालत करते हैं।

शमशेर बहादुर सिंह अज्ञेय को अपना 'फेवरिट' मानते हैं। अज्ञेय में जो सबसे प्यारी चीज है और जिसने उन्हें आकृष्ट किया वह है उनकी व्यापक और गहरी सुरूचि, भावों की सच्ची गंभीरता और अभिव्यक्ति में सादगी जो एक क्लासिक शिल्पी में मिलती है। पर अज्ञेय में जो चीज उन्हें खटकती है पर वह भी आकर्षित ही करती है वह है सदैव अपनी भावनाओं के प्रति सचेत रहना। अज्ञेय कभी अपने को भूल नहीं सकते, खो नहीं सकते विशेषकर कविता में—इसलिए शमशेर के लिए अज्ञेय सदैव ही एक बड़े शिल्पी, शब्द और कलाभिव्यक्ति के पारखी, शालीन, सुरूचि संपन्न, तटस्थ आम्लीन और एक अच्छे इंन्सान रहे हैं।

मुक्तिबोध समाज के शोषक शत्रु को पेंट करते हैं। उसके अहं को, उसके बाह्य

आतंक को—मगर जो खोखला है, एकदम निर्जन का-सा आतंक है—इसी आतंक से कवि का वर्ग-व्यक्ति पीड़ित शामिल है। मुक्तिबोध उसी पीड़ा और शाप को व्यक्त करते हैं खुली आखों उसे देखते और क्रूर निर्मम शब्दों में उसे रूपाकार देते हैं। नरेश मेहता शमशेर के प्यारे कवियों में से एक हैं क्योंकि उनकी कविताएं कहती हैं कि उसका रचनाकार एक भद्र आदमी है। भाषा-शैली, उक्ति और योजना कल्पना और चित्र सबसे निराले और बिल्कुल उसके अपने हैं। इनके अलावा डॉ. रामविलास शर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, कीर्ति चौधरी, श्रीकांत वर्मा, प्रेमलता वर्मा, प्रभातरंजन कोकिल जी, वीरेंद्र मिश्र सरीखे गीतकार—कवि को भी शमशेर याद करते नजर आते हैं। नए यूरोपियन साहित्य के एक व्यक्तित्व के रूप में शमशेर बहादुर सिंह ने लुई अरागां को भी याद किया है। अरागां को फ्रांस के जर्रे-जर्रे से मुहब्बत है। उसकी घाटियों, मैदानों, पहाड़ों, नदियों, शहर, खेत, बाजार, पेरिस, पेरिस की रातें, उसके फूलों से उसे प्यार है। अपने इतिहास के कठिन मोड़ों पर फ्रांस जिस तरह यूरोप और दुनिया की इंन्सानी आजादी के लिए एक राजमार्ग और अंधेरी रातों के लिए चिराग रहा है। वह सब कवि अरागां के अंतःकरण पर नक्श है। अरागां स्वयं अपने साहित्य में संघर्षशील आधुनिक पाठक की आत्मा हैं।

शमशेर बहादुर सिंह ने कवि घनश्याम अस्थाना की चर्चा करते हुए डॉ. राम विलास शर्मा की इस टिप्पणी को जोड़ा है कि अस्थाना आगरे के सबसे अच्छे कवि हैं। "मुझे याद आया कि आगरे में तो रांगेय राघव भी हैं और स्वयं रामविलास जो अस्थाना के कविता संग्रह को देखकर कहते हैं कि इसे मेरे संग्रह के प्रकाशित होने तक रखना चाहिए था।" प्रश्न और जिज्ञासा यह पैदा होती है कि आखिर अस्थाना की कविताओं में ऐसा क्या है जो उन्हें प्रिय लगता है? अस्थाना के एक गीत को देखकर—उसके एक टुकड़े को पढ़कर ही इसका अनुमान लगाया जा सकता है—

पूनम की रात—
उजले-उजले आंगन में नाचे रैन बावरी
तारक मंजीर बजे री !
कजरारी आंखों की अलसाई कोरो में
सपनों के चित्र सजे री !
निदियारी पलकों में
याद बसी किंतु—
हारी अनजान प्यार भरी जीत री
पूनम की रात लिखे चांदी के गीत री !

या *मेघों की रानी* से इन पंक्तियों को देखें :

नृत्य करे मेघों की रानी
गूंजे रिमझिम की सरगम पर

क्वणन करे
नुपूरवा
पल न चकित तड़ित थिरकन पर
झूम उठे
बादरवा
अमराई में पागल पिकदल गाये मधु विहाग रे !
नृत्य करे मेघों की रानी, गूंजे द्रिम द्रिम राग रे !

'मेघों की रानी' शीर्षक संग्रह की कविताएं पढ़ने के बाद शमशेर बहादुर सिंह को सहमत होना पड़ा है कि रामविलास जी के लिए अस्थाना आगरे के सबसे प्रिय कवि हैं।

'कुछ और गद्य रचनाएं' शमशेर बहादुर सिंह भी एक महत्वपूर्ण किताब है क्योंकि इससे यह पता चलता है कि शमशेर की अपनी साहित्यिक रूचि क्या है? उन्हें कौन-कौन से कवि प्रिय हैं? निराला की कविता उन्हें कैसी लगती है या सुभद्रा कुमारी चौहान के संघर्ष को आप-हम कितना जानते हैं? कैफ़ी आजमी का कवि व्यक्तित्व कैसा था। कुल बाईस निबंधों की मार्फत ये बाते बताई गयी हैं और बहुत रोचक ढंग से प्रस्तुत की गयी हैं। हालांकि 'एक पर्सनल ऐसे' की तरह शमशेर हर जगह अपनी ही राय व्यक्त करते हैं किंतु वह बहुत निष्पक्ष और कहीं आत्मीय लगती है। पूरी किताब पढ़ जाइए कहीं कुछ विवादित या आरोपित नहीं लगता। शमशेर कुछ और रचें और गद्य में ही रचें यह मांग उनसे की जाएगी।

हिंदी कविता के हजार वर्ष

अंग्रेजी की 'गोल्डन ट्रेजरी' के ढंग की प्रतिनिधि हिंदी कविताओं का संग्रह कुमुदिनी खेतान के संपादन में *स्वांतः सुखाय* के नाम से प्रकाशित होकर आया है। एक हजार वर्ष की हिंदी कविता का संग्रह निकालना निश्चित रूप से एक कठिन कार्य है—विशेषकर कविताओं का चुनाव करना। क्योंकि इसमें सामान्य पाठकों, विशिष्ट पाठकों, आलोचकों आदि की रूचियों का ध्यान रखना पड़ता है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत प्रामाणिक बन पड़ा है। संपादक का अनुरोध है कि पाठक इसे पढ़कर हिंदी कविता के एक हजार वर्षों के इंद्रधनुषी रंगों से रंजित हों इसकी रसमयता से आप्लावित हों तथा यदि उनको इसमें कुछ भी सुंदर और आत्मीय लगे तो वे हिंदी साहित्य में अधिक रूचि लेना आरंभ करें, गद्य एवं पद्य की अन्य पुस्तकें पढ़ें और अपनी राष्ट्र भाषा के विपुल वैभव के प्रति प्रेम और गौरव का अनुभव करें। हिंदी काव्य का व्यापक प्रचार-प्रसार हो यही इस पुस्तक का मूल उद्देश्य है।

संपादक के इस अनुरोध से इस पुस्तक के शीर्षक 'स्वांतः सुखाय' की अर्थवत्ता समझ में आती है। नयी कविता तो हमें बाजार में उपलब्ध हो जाती है किंतु आदि कालीन कविताएं तो तलाशनी पड़ती हैं और वे जब कहीं एक किताब में उपलब्ध हो जाएं तो इससे

बड़ी सुविधा साक्ष्य के लिए और क्या हो सकती है? हजार वर्ष की हिंदी कविता के इस संग्रह को शुरू में हिंदी साहित्य के विभिन्नकाल यानी आदिकाल, पूर्वमध्यकाल या भक्तिकाल, उत्तर मध्यकाल या रीतिकाल आधुनिककाल फिर इसमें भी भारतेंदु युग (1850-1900) द्विवेदी युग (1900-1920) छायावाद (1920-1937) प्रगतिवाद (1937-1945) प्रयोग-वाद (1945-1965) नवगीत (1960) नयी कविता (1965) से परिचित कराते हुए उन सब कालखंडों पर विस्तार से विचार किया गया है। और इससे हिंदी साहित्य के इतिहास की काव्य की प्रवृत्तियां एक-एक कर खुलती गयी हैं। पूरी किताब को दो खण्डों में विभक्त किया गया है—प्रथमखण्ड में अपभ्रंश, मैथिली, ब्रज और अवधी को लिया गया है। दूसरे खण्ड में खड़ी बोली को लिया गया है। प्रथम खण्ड का कालखंड 9वीं शताब्दी से 1895 ई तक और दूसरे का 1949 तक का है। प्रथम खंड में कुल मिलाकर पच्चीस कवियों की कविताएं हैं और कुछ छिटपुट रचनाएं संग्रहीत हैं। दूसरे में खड़ी बोली के सौ कवियों की रचनाएं हैं। प्रत्येक कवि का परिचय भी दिया गया है और उसकी श्रेष्ठ रचनाएं संकलित की गयी हैं।

हजार वर्ष की हिंदी कविता अगर एक जगह पढ़ने को मिल जाए तो इससे बड़ी सुविधा की बात और क्या हो सकती है और यह किताब यही सुविधा प्रदान करती है। प्राचीन कविता को छोड़ दें तो नयी कविता के कवि और उनकी चयनित कविता पर पाठक के विचार संपादक से कहीं भिन्न भले हो जाएं पर चयन तो चयन है और उसी इसे रूप में देखें तो निश्चित रूप से इस ग्रंथ का स्वागत होना चाहिए।

जर्मन-हिंदी कोश

केंद्रीय हिंदी निदेशालय अपनी विभिन्न गतिविधियों के अलावा हिंदी तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं का द्विभाषा कोश और हिंदी के साथ अंग्रेजी को लेकर एक और भारतीय भाषा के साथ त्रिभाषा कोश के निर्माण और प्रकाशन का काम करता है। इसके साथ-साथ हिंदी के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप को देखते हुए हिंदी के साथ विदेशी भाषाओं का कोश भी इसके जिम्मे है। दरअसल जर्मन-हिंदी कोश उसकी एक कड़ी है। भूमिका में यह स्वीकार किया गया है कि इस कोश का निर्माण भारत तथा जर्मन जनवादी गणराज्य के बीच सांस्कृतिक समझौते के अंतर्गत किया गया है। उद्देश्य यह है कि दोनों देशों के बीच सद्भाव तथा मैत्रीपूर्ण संबंधों को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए शैक्षिक स्तर की शब्द कोश निर्माण संबंधी ऐसी सामग्री (संदर्भ) तैयार की जाए जो दोनों देशों की भाषा की संप्रेषणीयता में सहायक हो। इस दृष्टि से इस शब्द कोश का महत्त्व बहुत बड़ा है। जो लोग जर्मन सीख रहे हैं उनके लिए तो यह जरूरी है ही, जो जिज्ञासावश जर्मन के शब्दों से परिचय स्थापित करना चाहते हैं उनके लिए भी यह कोश उपयोगी है।

आरंभ में यह निर्देश दिया गया है कि इस कोश को कैसे देखा जाए और संकेत

के तौर पर प्रविष्टि क्रम, अंक-प्रयोग, विरामादि चिह्न प्रविष्टि, संज्ञा की प्रविष्टि को वर्णित किया गया है। जर्मन वर्णों के हिंदी नाम भी दिए गए हैं और आठ सौ ग्यारह पृष्ठों में यह शब्द कोश हमें उपयोगी शब्द-संपदा प्रदान करता है। इसकी छपाई-सफाई उत्तम है और कोश निर्माण से जुड़े व्यक्ति बधाई के पात्र हैं। केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशित यह शब्दकोश एक जरूरी कोश है। ☐

आस्था और चिंतन/विवेकी राय/प्रतिभा प्रतिष्ठान/नयी दिल्ली/मूल्य 80/- रुपए/ पृ. सं. 176

अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय विज्ञान/विजयलक्ष्मी शर्मा/राधाकृष्ण प्रकाशन/2/28 अंसारी मार्ग/दरियागंज/नयी दिल्ली/मूल्य 140/- मात्र/पृ. सं. 242

कुछ और गद्य रचनाएं/शमशेर बहादुर सिंह/राधाकृष्ण प्रकाशन/2/38 अंसारी मार्ग/ दरियागंज/नयी दिल्ली-2/मूल्य 125/- रुपए/पृ. सं. 240

स्वांतः सुखाय/कुमुदिनी खेतान/नेशनल पब्लिशिंग हाऊस/नयी दिल्ली/मूल्य 300/- मात्र/पृ. सं. 661

जर्मन-हिंदी कोश/केंद्रीय हिंदी निदेशालय/शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय/पश्चिमी खंड 7 रामकृष्णपुरम/नयी दिल्ली/मूल्य 295.50 रु./पृ. सं. 811

गंगा—एक प्राकृतिक-सांस्कृतिक धरोहर

विश्वमोहन तिवारी

जैसे ही मैंने यह पुस्तक देखी, मेरे हृदय में आनंद की लहरें उठीं। गंगा के नाम में ही इतना गहरा आकर्षण है। और बद्रीनाथ, फूलों की घाटी, गंगोत्री और गोमुख की यात्राओं की रील मेरी स्मृति में तेजी से चल पड़ी, जो अपने साथ पुराणों, लोककथाओं, लोक गीतों तथा वैज्ञानिक तथ्यों को भी फ्लैश-बैक की तरह बीच-बीच में दिखाने लगी।

विश्व विख्यात डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन के प्राक्कथन से मालूम हुआ कि गंगा पर अप्रैल 1989 में नेहरू शताब्दी समारोह के अंतर्गत एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गई थी।

पुस्तक के संपादक श्री कृष्णमूर्ति गुप्त (हिमालय सेवा संघ के मंत्री) की भूमिका से ज्ञात हुआ कि उस राष्ट्रीय गोष्ठी का मुख्य उद्देश्य गंगा के कगारों पर स्थित उन सभी प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक स्थलाकृतियों व उसके पौराणिक स्वरूप को यूनेस्को की 'विश्व सांस्कृतिक विरासतों' की सूची में जोड़ने के लिए खोजपूर्ण कार्य करना था। लगभग डेढ़ सौ पृष्ठ की पुस्तक में 84 पृष्ठ मात्र डा. कृष्णमूर्ति के निबंध को दिए गए और लगभग 60 पृष्ठ अन्य तीन निबंधों को।

यूनेस्को को प्रेरित करने के लिए मुख्यतया गंगा का भारतीयों के लिए सांस्कृतिक महात्म्य, आधुनिकीकरण अथवा अन्य कारणों से गंगा की शुद्धता को, उसकी जीवंतता को खतरा तथा उन खतरों से गंगाघाटी को भी खतरा तथा गंगा संबद्ध उन स्थानों का वर्णन जिन्हें उस सूची में शामिल करना है, आदि लिखने से ध्येय की पूर्ति की आशा की जा सकती है। डॉ. कृष्णमूर्ति इससे अधिक विशेष नहीं कर पाए।

डॉ. कृष्णमूर्ति ने 'गंगा' का भारतीय मानस में स्थान दिखलाने के लिए जवाहरलाल नेहरू और मदनमोहन मालवीय के जीवन की एक साहसिक घटना का वर्णन किया। 1934 के कुंभ मेले में यथेष्ट सुरक्षा का प्रबंध न कर पाने के कारण ब्रितानी सरकार ने संगम स्नान पर प्रतिबंध लगा दिया था। और उस सरकार ने अपने नियमों के पालन हेतु घुड़सवार पुलिस भी तैनात कर दी थी। एक जलसे में इसके खिलाफ सत्याग्रह का आयोजन किया गया, राष्ट्रीय झंडा फहराया गया और जवाहरलाल जी मदनमोहन जी के पास बैठ गए। भीड़ संगम में जाने का सत्याग्रह कर रही थी, घुड़सवार उन्हें रोक रहे थे। जवाहरलाल जी ने देखा कि इस दृश्य को देखकर मदनमोहन जी बड़े उद्विग्न हो रहे थे कि अचानक, उस वृद्धाव स्था में भी, मदनमोहन जी एकदम उठकर उन घोड़ों और भीड़ के बीच घुस गए। और जवाहरलाल जी भी मदनमोहन जी के साहस और संकल्प की मन ही मन सराहना करते हुए उनके पीछे भीड़ में घुस गए और फिर उन्होंने संगम में स्नान भी किया। जवाहरलाल

जैसा धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति जब गंगा के लिए इतना खतरा मोल ले सकता है तो गंगा की जनमानस में प्रतिष्ठा के विषय में संदेह का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसी प्रकार, डॉ. कृष्णमूर्ति ने गंगा के माहात्म्य को मुख्यतया जवाहरलाल नेहरू, इंदिरा गांधी, ह्वेनसांग, श्री अरविंद, महाभारत, उपनिषद, पुराण, महाकवि वाल्मीकि, कालिदास आदि के संस्कृत साहित्य, तमिल साहित्य इत्यादि के उद्धरण देकर निर्विवाद रूप से भारतीय मानस में 'गंगा' का आध्यात्मिक और भौतिक महत्त्व प्रमाणित किया है, वह भी विश्वविख्यात इतिहासज्ञ आर्नल्ड टायनबी की कसौटी पर—"जहां तक मानव स्वभाव में स्थायी तत्त्वों का संबंध है, उनमें सर्वोपरि मानव का आध्यात्मिक स्वभाव है।"

गंगा की पावन जलधारा ने भारतीय संगीत कला, चित्रकला और मूर्तिकला को भी उतनी ही प्रेरणा दी है जितनी ऊपरलिखित विविध साहित्य को। 'गंगा' के सांस्कृतिक प्रभाव के उदाहरण, भारत के अतिरिक्त दक्षिणपूर्वी एशियाई देशों से भी उद्धृत किए हैं।

गंगा से संबद्ध तीर्थ स्थानों और सांस्कृतिक केंद्रों का वर्णन भी किया गया है जिससे कि इन्हें भी सांस्कृतिक विरासत की सूची में सम्मिलित किया जाए। डॉ. कृष्णमूर्ति गंगा की पौराणिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक, भौगोलिक और भूवैज्ञानिक, पुरातत्त्व वैज्ञानिक, नृतत्व शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों की संक्षिप्त चर्चा करते हैं। पौराणिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा नृतत्वशास्त्रीय पृष्ठभूमियों पर तो उन्होंने रोचक, सटीक और प्रभावकारी जानकारी दी है, किंतु जब वे भौगोलिक और भूवैज्ञानिक, पुरातत्त्व तथा वैज्ञानिक पृष्ठभूमियों पर आते हैं तब उनका निबंध कमजोर, सतही और प्रभावहीन हो जाता है। भौगोलिक पृष्ठभूमि में वे लिखते हैं, " ... मिट्टी और बालू की इस परत के नीचे ऐसे पदार्थ मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि दक्षिण और हिमालय का क्षेत्र किसी जमाने में एक था।" यह समझ में नहीं आता कि हिमालय के दक्षिण का कौन-सा क्षेत्र पहले एक था और अब अलग-अलग हो गया और कितना अलग हो गया। वैसे भी यह कथन हिमालय संरचना के आधुनिक चल-महाद्वीपीय सिद्धांत से मेल नहीं खाता। और एक जगह वे लिखते हैं, "कि किसी जमाने में यमुना सिंधु नदी और उसकी सहायक नदियों में जा मिलती थी। ... कुछ शताब्दियों पहले ही यह प्रयाग तक बहने लगी है।" महाभारत काल (उसे चाहे आप 2800 वर्ष पूर्व माने या 4000 वर्ष पूर्व) में यमुना निश्चित रूप से प्रयाग में ही बहती थी। यमुना का प्रवाह यदि बदला है तो निस्संदेह, कुछ शताब्दियों से नहीं, वरन कई हजार वर्ष पूर्व बदला होगा।

'पुरातत्त्व वैज्ञानिक पृष्ठभूमि' इतना निष्प्रभावी लिखा गया है कि इस लेख के होने से पूरे निबंध पर कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

नृतत्वशास्त्रीय पृष्ठभूमि में वे लिखते हैं कि गंगा घाटी में मुख्यतया चार जातियां बसीं—प्रोटो आस्ट्रेलायड (निषाद), पेलियो मंगोलायड (किरात), पेलियो भूमध्यसागरीय (द्रविड़) तथा नॉर्डिक; और ये आपस में इतनी घुलमिल गई हैं कि इन्हें अब अलग-अलग जातियों में नहीं पाया जा सकता, वरन इन सबके यौगिक मिश्रण से एक साझा जाति पैदा

हुई है। प्रोफेसर सुनीति कुमार चटर्जी ने कहीं लिखा है कि "अच्छा हो कि हम जातीय संस्कृतियों के स्थान पर भाषागत संस्कृतियों की बात करें"—आस्ट्रिक, चीन-तिब्बती, द्रविड़ और भारोपीय। इसी तरह इन सब भाषायी समूहों के घुलने मिलने से एक सांझी भारतीय संस्कृति का जन्म हुआ है। प्रोटो आस्ट्रिक (निषाद) तथा पेलियो मेडिटेरेनियन (द्रविड़) संस्कृतियों का भारतीय संस्कृति के विकास में महत्वपर्ण योगदान रहा है। निषादों ने ही चावल (पहाड़ी भूमि में) तथा शाक सब्जियों की खेती, गन्ने की खेती और उससे गुड़ का उत्पादन, पान का चलन, कर्मकांड में सिंदूर का उपयोग आदि भारतीय सभ्यता को दिया है। श्री कृष्णमूर्ति लिखते हैं कि गंगा शब्द मूलतः निषाद शब्द है क्योंकि बंगाली भाषा में गंग का अर्थ नदी होता है। यह तर्क कमजोर लगता है क्योंकि प्रोफेसर सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा है कि मूल निषाद भाषा में नदी को कंयागं कहते हैं। निषाद लोग आत्मा को अमर मानते थे और पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। कूर्म अवतार की कथा भी उनकी सांस्कृतिक देन है। द्रविड़ लोगों की संस्कृति नागर थी, उन्होंने नगर बसाए और राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार किया। द्रविड़ों का विश्वास था कि ब्रह्मांड की शक्तियों में देवी मां का स्थान सर्वोच्च है। आगम और निगम का सामंजस्य आर्यों और द्रविड़ों का मिलन है। यज्ञ और होम आर्यों की देन है तो पूजा द्रविड़ों की। पूजा शब्द की व्युत्पत्ति द्रविड़ शब्द पु (पुष्प) और चय (चढ़ाना) से हुई है। हिंदू धर्म तथा संस्कृति के बुनाव में यदि ताना द्रविड़ है तो बाना आर्य। ऐसे सशक्त ताने-बाने से बुनी हुई भारतीय संस्कृति की चादर हम सहस्त्रों वर्षों से उपयोग में ला रहे हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या। गंगा के सुपुत्रों और सुपुत्रियों ने हमें एक संश्लिष्ट संस्कृति (मैं कहूंगा उदात्त संस्कृति) दी है उसे बनाए रखना हमारा धर्म है।

जब मैंने यह पुस्तक उठाई थी तो आशा की थी कि इसमें गंगावतरण मिथक और अन्य गंगा संबद्ध मिथकों को समझाने का प्रयास होगा। क्योंकि किसी भी मिथक के भीतर सच्चाई का बीज रहता है और मानस की कल्पना शक्ति और रचनाशक्ति उस बीज से एक ऐसी जीवंत बेल की उत्पत्ति करती है जो दीर्घ काल तक फलती और फूलती है। किंतु इस निबंध में इन विषयों पर बहुत कम जानकारी मिली। पौराणिक पृष्ठभूमि में डॉ. कृष्णमूर्ति वाल्मीकि रामायण को उद्धृत करते हैं—राम विश्वामित्र से कहते हैं, "हे महामुनि, मुझे उन सारी घटनाओं का ज्ञान कराइये जिनके कारण गंगा को त्रिपथगा की संज्ञा दी गई है।" किंतु इस निबंध में उसका भी संतोष जनक उत्तर नहीं है। यदि विश्व की समस्त नदियों की तुलना में मात्र गंगा मानव आत्मा से जुड़ी है, तो ऐसा क्यों? एक नदी से जो भौतिक लाभ मिलते हैं वे सभी अच्छी नदियों से मिलते हैं—यमुना, सिंधु, अमेजन, नील, दजला, फरात सभी। तब गंगा ही क्यों मानव को भौतिकता की अपेक्षा अध्यात्म पर ले गई। ऐसे प्रश्नों के संतोषप्रद उत्तर नहीं मिले। जोजेफ कैम्पबैल का एक उद्धरण—"सभ्यताओं का उदय और उनका पतन मिथकों की समग्रता और तर्क संगतता पर निर्भर करता है। ... जिन सभ्यताओं में कोई स्थानीय मिथक प्रभावशाली रहता है उनकी सामाजिक व्यवस्था ब्रह्मांड

के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है।" गौरतलब जरूर है किंतु इसे सोदाहरण स्थापित करते तो बात प्रभावशाली बनती। गंगा का जीवंत माहात्म्य तो लोक कथाओं-गीतों में मिलता है, उस पर सारी पुस्तक शांत है।

ऐसे बहुत से प्रश्नों के उत्तर इस निबंध में संतोषप्रद रूप से नहीं दिए गए हैं और स्थानाभाव इसका मुख्य कारण हो, ऐसी बात भी नहीं। कुछ उदाहरण उद्धृत करता हूं। पृष्ठ 11 में वे तैत्तिरीय उपनिषद् का एक श्लोक उद्धृत करते हैं जिसका अर्थ है—"पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, अंतरिक्ष, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्रमा, तारे, जल, औषधियां और वनस्पतियां सदा फैलते हुए ब्रह्मांड और सदा विकसित होने वाले जीवन के लिए प्राकृतिक तत्त्व हैं।" और इससे, पता नहीं किस तरह, डॉ. कृष्णमूर्ति यह निष्कर्ष निकालते हैं—"उपनिषदों में वर्णित इस पृष्ठभूमि को देखते हुए हम अपने पुरखों के इस विश्वास को नहीं नकार सकते कि अंतरिक्ष में ब्रह्मांड की शक्तियों की अन्योन्य क्रिया ने ही गंगा को जन्म दिया।"

पृ. 13 पर महानारायण उपनिषद् से एक श्लोक उद्धृत करते हैं जिसका अर्थ है—जल ही ब्रह्मांड, उसका भूत और वर्तमान है। खाद्य पदार्थ और जीवन जल है, आसपास की सारी वनस्पति जल है और जल जीवन के लिए अमृत के समान है।" और इससे, फिर पता नहीं किस तरह, वे यह निष्कर्ष निकालते हैं—"गंगा जल गंगा के गुह्य उद्गम के कारण जीवनदायिनी तथा पाप विमोचनी शक्ति का प्रतीक है।" जीवनदायिनी का निष्कर्ष तो ठीक है किंतु पाप विमोचिनी?

पृष्ठ 16 पर पता नहीं किस सार्थक उद्देश्य से यह पंक्तियां लिखी गई हैं—"एक बार अगस्त्य मुनि ने एक ही घूंट में सारे समुद्रों का जल पी लिया था ... समुद्र का जल सूख जाने से सभी जलचरों तथा अन्य जीवों को बड़े कष्ट का सामना करना पड़ा था। उनका आर्त्तनाद सुनकर विष्णु भगवान ने कहा कि जब सागर का वंशज तप करके गंगा को स्वर्ग से भूमि पर लायेगा और जब वह समुद्र तक पहुंचेगी तो आप लोगों के सारे कष्ट दूर हो जाएंगे।" तब तक क्या बहुत देर नहीं हो जाएगी, कितने क्षणों तक जलचर जीव बिना पानी के जीवित रह सकते हैं? फिर वे आगे लिखते हैं, किंतु पता नहीं किस उद्देश्य से—"महाभारत और बाद में श्रीमद्भागवत में समुद्रों के सूख जाने से उत्पन्न कष्टों का ब्यौरा दिया गया है। श्रीमद्भागवत के एक अध्याय के प्रारंभ में यह पंक्ति आती है—"जब आकाश वृष्टि के रूप में पृथ्वी पर कृपा नहीं करता तब वह सूख जाती है।" इस तरह अनावश्यक लेखन के और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

ऐसा प्रलेख जो यूनेस्को के लिए लिखा गया हो, जानकारी के बतौर बिल्कुल सही होना चाहिए। किंतु इस प्रलेख में दो गलतियां दिखीं। पहली पृष्ठ 15 पर—"भगीरथ के पीछे चलते-चलते हरिद्वार से होती हुई वह मृत्युलोक में आई जो भारतवर्ष की विशाल भूमि थी। *भगीरथ के पुरखों रघु और राम* की अस्थियों को शिव की जटाओं से निःसृत एक बूंद से पवित्र करने के पश्चात ... " रघु और राम भगीरथ के पुरखे तो नहीं थे। राम के समय तो गंगा बह रही थी। दूसरी, पृष्ठ 25 पर, "गंगा के डेल्टा के क्षेत्र का क्षेत्रफल लगभग

64,000 वर्ग कि.मी. है।'' जबकि भगवती नौटियाल के लेख में पृष्ठ 145 पर लिखा है: ''इन दोनों धाराओं (अर्थात् हुगली और पद्मा-मेघना) और समुद्र की रेखा के बीच जो त्रिकोणात्मक मुखभूमि (डेल्टा) है उसका क्षेत्रफल लगभग 28,000 वर्गमील है।'' (28000 वर्ग मील = 72,000 वर्ग कि.मी.)। इस तरह की गलतियां गंभीर हैं।

कुल मिलाकर डॉ. कृष्णमूर्ति का निबंध यूनेस्को हेतु तो सशक्त, सटीक और प्रभावी है। किंतु 'गंगा—एक सांस्कृतिक थाती' के रूप में कुछ कमजोर है, बहुत से जायज प्रश्नों के उत्तर या तो नहीं हैं या संतोषप्रद नहीं हैं। फिर भी जो जानकारी दी गई है वह रूचिकर है।

कुछ शब्द अनुवाद पर भी। कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं। पृष्ठ 17 पर, ''गंगा की विभिन्न भूमिकाओं के बारे में क्या नहीं कहा जा सकता, लेकिन समय और स्थान दोनों बाधक होते हैं।'' समय और स्थान का बाधक होना कठिन है, हां उनकी कमी महसूस की जा सकती है। पृष्ठ 19 से एक उदाहरण, ''ईसा से पहले कुछ ही शताब्दियों में भाषा में मन या आत्मा की संकल्पना ने जन्म लिया। जिसका मूल अंतर्मन या आत्मा का शाश्वत और अपरिवर्तनीय यथार्थ था। वही मन भ्रमों और भावावेशों से उपर उठकर यथार्थ का रूप ले लेता है।'' आत्मा अपरिवर्तनशील 'सत्य' है, 'यथार्थ' नहीं। अनुवादक द्वारा 'रियलिटी' का अनुवाद दोनों जगह 'यथार्थ' करने से सारा गुड़ गोबर हो गया।

दूसरे, लेखक का यह कथन कि 'ईसा से पहले कुछ ही शताब्दियों में भाषा' गलत है क्योंकि ईसा से लगभग 5 शताब्दियों पहले तो गौतम बुद्ध हुए जिन्होंने आत्मा की वैदिक संकल्पना को नहीं माना। आत्मा की संकल्पना श्रुतियों से आ रही है अर्थात कुछ हजार वर्ष पूर्व। पृष्ठ 20 से एक उदाहरण, '' ... ऋग्वेद की जीवंतता, यजुर्वेद के कर्मकांड और सामवेद की प्रार्थनाओं का अंत अंततोगत्वा वेदांत में जाकर हुआ। ... '' यहां ... प्रार्थनाओं की परिणति होना चाहिए। पृष्ठ 21 से एक उदाहरण '... तथा कर्म मार्ग द्वारा निस्वार्थ भाव से कार्य करना ... ' यहां 'निष्काम भाव से कार्य करना' होना चाहिए। पृष्ठ 21 से एक और उदाहरण और जीवन चेतना का एक गुप्त रूप है। यहां गुप्त के स्थान पर 'रहस्यमय' सटीक है। इतनी महत्वपूर्ण पुस्तक में अनुवाद की इस तरह की गलतियां अक्षम्य हैं।

पुस्तक का दूसरा निबंध, 'गंगा—एक सांस्कृतिक विरासत (उद्गम, पारिस्थितिक तंत्र और प्राकृतिक स्थल)' डॉ. जाकिर हुसैन कालिज के वनस्पति शास्त्री डॉ. वीरेंद्र कुमार, जो 'सेंटर फॉर माउंटेन एण्ड हिल एनवायरमेंट' के निदेशक भी हैं, ने लिखा है। इसमें गंगा और उसके क्षेत्र के विषय में आंकड़े ही आंकड़े हैं। जैसे उन्होंने बताया कि भागीरथी का जन्मदाता हिमनद 26 कि.मी. लंबा है। (किंतु वे अलकनंदा के जन्मदाता सतोपंथ हिमनद की लंबाई बतलाना, शायद भूल गए)। अन्य हिमनदों की तरह, कुछ भौगोलिक परिवर्तनों के कारण, गंगोतरी हिमनद की लंबाई 1935 से 1976 के बीच 6 कि.मी. कम हो गई है। किंतु एक आशा की किरण यह है कि इसकी लंबाई के घटने की दर सन 1971 से कम हो गई है। गंगा की सभी सहायक नदियों के विषय में इस तरह की जानकारी दी है।

निबंध में भू-जल विज्ञान खंड में डॉ. वीरेंद्र कुमार बतलाते हैं कि विगत युगों में

गंगा के क्षेत्रों की भू संरचना किस तरह हुई, उनकी चट्टानें और जमीनें किस प्रकार की हैं और इनमें मुख्यतया कौन-कौन से खनिज पाए जाते हैं। इस लेख में वे बराबर आवश्यक चेतावनी समझा बुझाकर देते रहते हैं कि जिस तरह से हम वनों को काट रहे हैं और टेहरी जैसे विशाल बांध बना रहे हैं, हम न केवल बाढ़ की दुर्दमनीय ताकत बढ़ा रहे हैं वरन् हम गंगा को वरदान के स्थान पर अभिशाप बना रहे हैं।

एक बात जो 'भू जल विज्ञान' खंड में खटकी वह यह कि हिमालय की उत्पत्ति समझाने का प्रयास बहुत कम किया और वह भी उन्होंने 'प्लेट थ्योरी ऑव मूवमेंट्स ऑव कांटिनेंटल शेल्फ' के सिद्धांत पर स्पष्ट रूप से नहीं किया, वरन जो भी थोड़ा वर्णन किया है वह परोक्ष रूप में 'जिओसिंक्लाइन' (भू-अभिनति) सिद्धांत आदि को आधार बनाकर किया।

इस निबंध के 'पेड़ पौधे' खंड में लेखक गंगा को तीन मुख्य वानस्पतिक क्षेत्रों में बांटते हुए, उन क्षेत्रों की मुख्य-मुख्य वानस्पतिक उपज बतलाते हैं। हिमालयी वानस्पतिक निकाय अद्वितीय है क्योंकि इसमें विश्व के लगभग सभी पादप-भौगोलिक क्षेत्रों के तत्त्व कमोबेश मात्रा में मौजूद हैं। पादपों की कुछ जातियां जो हिमालय में मिलती हैं वे उत्तरी एशिया और उत्तर पश्चिमी अमेरिका में तो मिलती हैं किंतु आल्प्स और यूरोप में नहीं मिलतीं। निबंध का यह खंड पेड़ पौधों की वैज्ञानिक जानकारी से भरा पूरा है।

निबंध के जीव जंतु खंड में वे लिखते हैं कि यद्यपि विशेषतया स्तनपायी जंतु संसार के किसी भी पर्वतीय पारिस्थतिक तंत्र में उसर, खड़ी ढाल वाले स्थानों और कड़े मौसम से बचते हैं, तथापि हिमालय में विश्व के स्तनपायी जंतुओं की लगभग एक तिहाई जातियां मिलती हैं। इसका कारण वे बतलाते हैं कि चूंकि हिमालय बाद में विकसित हुआ है, इसलिए यहां के स्तनपायी जंतुओं को, परिस्थितियों के अनुकूल, अपने को ढालने के लिए काफी समय मिल गया था। यह तर्क संगत नहीं लगता क्योंकि अन्य पर्वतीय (जैसे आल्प्स) स्तनपायी जंतुओं की अपेक्षा हिमालयी जंतुओं को, हिमालय की कम उम्र होने के कारण, कम समय ही मिला। इस तथ्य (स्तनपायी जंतुओं की जातियों की बहुलता) के लिए मेरे अनुमान से, एक तो हिमालयी क्षेत्रों में पास पास ही विभिन्न मौसमों का होना (उँचाई की विविधता की बहुतायत के कारण) और फलस्वरूप वानस्पतिक विविधता का अपेक्षाकृत पास-पास होना, और दूसरे गंगा और उसकी सहायक नदियों के कछार में मानव का बहुत पहले से अपना अधिकार जमाना जिसके फलस्वरूप जंतुओं का कड़े मौसम में कछार में न आ पाना और इसलिए उन जंतुओं को परिस्थितियों के अनुकूल ढलने के लिए मजबूर होना है। हिमालय का अपेक्षाकृत 'युवा' होना, इतने महत्व का नहीं है।

इस खंड में उन्होंने लुप्त हो रहे अथवा संकटग्रस्त जंतुओं के विषय में उचित चेतावनी दी है। पक्षियों की बहुत ही कम किस्मों के नाम उन्होंने गिनाए हैं, जबकि पक्षियों ने भी हिमालय को अपूर्व सुंदरता और विविधता प्रदान की है।

धर्म एवं संस्कृति खंड को भी उन्होंने आंकडों से ही बनाया है। जैसे उत्तराखंड में कुल मंदिरों में से 64% मंदिर भगवान शिव के हैं, बद्रीनाथ के विष्णु नृसिंह रूप में हैं।

जोशीमठ (ज्योतिर्मठ) में पार्वती ने शिव के लिए तपस्या की थी, और आदिशंकराचार्य ने यहां पर बोधिवृक्ष के नीचे तपस्या कर दिव्य (ज्योति) ज्ञान प्राप्त किया था। इसी तरह 'प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक स्थान' खंड में वे विभिन्न महत्वपूर्ण चोटियों की ऊंचाई बतलाते हैं और अन्य स्थानों का अतिसंक्षिप्त परिचय देते हैं यथा—रूद्रनाथः यहां के मंदिर में शिवजी के हाथ और पैर की उपासना की जाती है। पृष्ठ 91 पर वे लिखते हैं—"इस भावना" (गहरी श्रद्धा और आध्यात्मिकता की खोज की) की अभिव्यक्ति के भौतिक प्रतीक वे मंदिर, स्तूप, मस्जिदें और गिरजाघर हैं जो गंगा की धारा के साथ-साथ बने हैं।" वे यदि मस्जिदों और गिरजाघरों में इस भावना के अस्तित्व का कोई भी प्रमाण देते तो यह कथन अनूठा और अत्यधिक प्रभावशाली हो जाता। यह ठीक है कि काजी नजरूल इस्लाम की कविताओं में रहस्यवाद है, किंतु यहां से मस्जिदों में उस भावना का जीवंत होना एक लंबी यात्रा है। इस तरह गिरजाघर भी। कुछ गलतियां, इस आंकड़ेमय निबंध में विशेष खटकती हैं। पृष्ठ 93 पर, "गोमुख से लगभग 18 कि.मी. दूर स्थित हरसिल के थोड़ा बाद, नदी दक्षिण-पश्चिम दिशा में मुड़ती है और उत्तरकाशी की ओर उतरती है जो उत्तरकाशी से लगभग 175 कि.मी. दूर है।" पहली बात हरसिल गोमुख से 18 कि.मी. दूर नहीं है। दूसरी बात, अंतिम वाक्य में "जो उत्तरकाशी से" में "जो" है वह किस संज्ञा का सर्वनाम है, समझना थोड़ा मुश्किल है। इसलिए भी कि गोमुख से उत्तर काशी 175 कि.मी. नहीं है क्योंकि पृष्ठ 94 पर ही वे लिखते हैं कि "नदी अपने उद्गम स्थान से देवप्रयाग तक लगभग 170 कि.मी. बहती है।"

इस लेख में प्राकृतिक स्थलों की आंकड़ेयुक्त जानकारी बहुत ही श्रमसाध्य है और कठिनाई से मिलती है और कई दृष्टियों से देखा जाए तो साधारणतया उपलब्ध नहीं होती है। इस तरह यह लेख यूनेस्को हेतु तथा विशेष पाठकों के लिए बहुत उपयोगी है। इस लेख के साथ कुछ नक्शे दे दिए जाते और तकनीकी शब्दों की अर्थ सहित अनुक्रमणिका भी तो यह लेख समुचित बोधगम्य हो जाता।

पुस्तक के तीसरे निबंध 'संस्कृति की सजीव स्मृति' में डॉ. गंगा प्रसाद विमल ने इस पुस्तक को जिसमें 'मस्तिष्क' की बहुतायत है, 'हृदय' दिया है। यदि यह निबंध पुस्तक का पहला निबंध होता तो पुस्तक की रोचकता और बढ़ जाती क्योंकि वह पाठकों को आगे पढ़ने के लिए प्रोत्साहन देता। वे कहते हैं कि "दुनिया की बड़ी नदियों के किनारे बड़े शहर, व्यापार केंद्र, नौकायन इकाइयों अर्थात सभ्यताओं का विकास हुआ है, परंतु गंगा के किनारे संस्कृतियों का विकास हुआ है। गंगा केवल एक नदी नहीं है, अपितु उसका स्पर्श मनुष्य को दिव्यता से और सीधे दिव्य हिमालय से जोड़ता है।"

डॉ. विमल का यह कथन भी विचारणीय है—"आज यात्रा तो सुगम हो गई है, परंतु वह प्राप्ति कदाचित अधिक विरल और दुर्गम हो गई है जिसके लिए आदमी भारत के इन महत्तम तीर्थों में जाता है।" जितनी कठिन तपस्या की जाए, कहते हैं कि भगवान उतने ही शीघ्र प्रसन्न होते हैं। किंतु यह भी कहते हैं कि सच्चे हृदय से प्रार्थना की जाए

तो भगवान एकदम प्रसन्न हो जाते हैं, गज और मगर की कथा इसीलिए प्रसिद्ध है। तो बात क्या निकली, वह यह कि असली बात हृदय की सच्चाई की है और तपश्चर्या हृदय की सच्चाई का माप बन जाती है। वास्तविक आध्यात्मिक उपलब्धि हृदय की सच्चाई पर निर्भर करती है, तपश्चर्या पर नहीं, वह तो मात्र परीक्षण है।

पुराने ग्रीष्म काल की उत्तरकाशी का वर्णन करते हुए विमल लिखते हैं—"शायद ही कोई घर, आंगन गलियारा हो जहां दस-बीस सिर न दिखें। आगत यात्रियों का उत्साह देखते ही बनता था। उनके कपड़े मैले कुचैले, पांव में छाले और बादल छा जाने पर उनमें अकल्पित सी ठंड व्याप जाती किंतु अपनी ग्रीष्मकालीन पोशाक में वे एक मंदिर से दूसरे मंदिर जाते न थकते थे। साधु संतो के डेरों में घंटों खड़े या बैठे मैंने उन्हें सदा ही देखा था। वे कभी न कहते कि उन्हें कोई कष्ट है। पता चलता कि वे लोग सुदूर पूर्व तिरूहत से आए हैं। ... और स्त्री की सौभाग्य सज्जा से लगता था वे दक्षिणात्य हैं। ... और आज ऐसा लगता है कि क्या सचमुच ऐसे लोग होंगे? ... मैं सोचता हूं गंगा के साथ जुड़े भारतीय रिश्ते को जानने के लिए अलग अलग स्तरों और दिशाओं से उस पर विचार करना पड़ेगा। ... यह कहना पड़ेगा कि हर क्षेत्रीय इकाई गंगा के नैकट्य से पवित्र बनी है। ... जो अप्रतिम जुड़ाव, भारतीय मानस, गंगा नदी से व्यक्त करता है वह वास्तव में संस्कारित विश्वास का, सामूहिक अनुभवों की संपुष्टि का ही भाव है। वह मिथ्या को मिथक में और सत्य को पादार्थिक लय में ढालकर एकमेव करता है। इस अर्थ में गंगा नदी एक सेतु है जो हमारे भीतर के अदृश्य से साक्षात्कार कराता है। ... कहना होगा, यह वह घटना क्षेत्र है जो इतिहास से संस्कृति की ओर उन्मुख है।" उनके मिथक वाले वाक्य को, उसमें निहित भावना से सहमत होते हुए मैं इस तरह लिखता—"वह सत्य को मिथक में और मिथ्या को पादार्थिक लय में ढालकर एकमेव करता है।" इसलिए कि अक्सर लोग मिथक के सत्य होने में संदेह करते हैं—उसे कल्पनाजन्य मानते हैं जबकि मिथक में सत्य बीज रूप से निहित रहता है और यह वह सत्य है जो मिथक बनता है युगों के जीवन के ताप और दबाव से, अनुपम प्रतिभाओं की रचनाशीलता से।

पुस्तक के चौथे निबंध 'गंगा-आकाश से सागर तक' के लेखक हैं पुस्तक के सहसंपादक श्री भगवती प्रसाद नौटियाल। गंगा और हिमालय में जो अटूट संबंध है और गंगा के अतिरिक्त हिमालय का भारतीय संस्कृति से जो गहरा संबंध है, उसे नौटियाल जी ने अपने भोगे हुए अनुभवों से इस निबंध में, मुख्यरूप से व्यक्त किया है और जिसके बिना इस पुस्तक में एक कमी रह जाती। वे कहते हैं कि—"अधिकांश जनता की रागात्मिका में हिमालय धूर्जटी है शिव है और गंगा शिवा।" आगे नौटियाल कहते हैं—"वैसे तो समस्त हिमालय, पर विशेषकर केदार खंड (गढ़वाल) ही वह भूमि है जिसे स्वर्गलोक की संज्ञा से विभूषित किया गया।" इस दृष्टि से गंगा का उद्गम भी इसी भूमि से मानना चाहिए। गंगा के आकाश से उतरने को समझाते हुए वे कहते हैं—"गढ़वाली भाषा में हिमालय के शिखरों को आकाश की उँचाई से नापे जाने की प्रथा रही है। इसलिए गंगा

को आकाश से उतरी हुई कहा गया है। फिर वे गंगा के उद्‌भव की कथाएं वाल्मीकि रामायण, विष्णु पुराण, वायु पुराण और देवी भागवत आदि से उद्धृत करते हैं।

गंगा के लौकिक पक्ष पर लिखते हुए वे कितनी बार चेतावनी देते हैं—"विज्ञान की अंधी दौड़ और औद्योगीकरण की आंधी ... ने हिमालय को खल्वाट, गंगा को प्रदूषित व प्रकृति-संस्कृति को विषमता के छोर पर ला खड़ा किया है। ... अकेला उत्तर प्रदेश ही गंगा में प्रतिदिन लगभग 13 लाख किलो घरेलू तथा औद्योगिक प्रदूषणों को छोड़ता है। 'प्रदूषण नियंत्रण व निवारण बोर्ड' के अनुसार कलकत्ता पहुंचते पहुंचते गंगा अधमरी हो जाती है। हमारे देश की आर्थिक व सांस्कृतिक समृद्धि में गंगा का जितना अद्वितीय स्थान है, उतना ही अमानुषिक व्यवहार हम उसके साथ कर रहे हैं।"

यह लेख और अच्छा बन सकता था यदि नौटियाल जी डॉ. वीरेंद्र कुमार का निबंध पढ़कर उसका उपयोग भी कर लेते। गंगा की सहायक नदियों के नाम, गंगातटीय नगरों के नाम आदि को व्यर्थ ही इस लेख में दुहराया गया है। तथा डॉ. वीरेंद्र कुमार के दिए आंकड़ों से इनके आंकड़े मेल नहीं खाते हैं। यथा : नौटियाल के अनुसार गंगा की लंबाई 2525 मि.मी. है। किंतु वीरेंद्र कुमार के (पृष्ठ 99) अनुसार गंगा हिमालय से निकलकर ... बंगाल की खाड़ी में गिरने से पहले लगभग 2290 मि.मी. की दूरी तय करती है।

गंगा के संबंध में जो ज्ञान-विज्ञान है वह हमारे पुराणों, शास्त्रों और लोक मानस में रत्नों की तरह बिखरा पड़ा है। एक बहुत बड़ी आवश्यकता थी कि उसे संकलित कर रोचक और आधुनिक रूप में एक ग्रंथ में लाया जाए। इस दृष्टि से यह पुस्तक एक प्रशंसनीय प्रयास है। यह पुस्तक जितनी सुंदर, प्रभावी और आनंददायक है उससे कहीं अधिक हो सकती थी, यदि पौराणिक कथाओं को वैज्ञानिक दृष्टि से देखने का प्रयास किया जाता, भारतीय सभ्यता और संस्कृति के साथ गंगा के संबंध की संक्षिप्त चर्चा के उपरांत गंगा का यह गुण दर्शाया जाता तथा लोक मानस में लोक कथाओं और लोक गीतों के समुचित संकलन का प्रतिनिधित्व इस पुस्तक में आ पाता। □

गंगा/कृष्णमूर्ति गुप्त/हिमालय सेवा संघ/मूल्य 120/- मात्र/पृ.सं. 145

विश्वमोहन तिवारी : कविताएँ, यात्रा, विज्ञान, इंजीनियरी, गणित, ललित कला, आलोचना तथा समीक्षा रक्षा विभाग संबंधी विषय इनके लेखन के विषय हैं। अब तक आठ पुस्तकें जिनमें से दो भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत। एयर वाइस मार्शल पद से सेवा निवृत्ति के बाद इन दिनों एक कंपनी में वरिष्ठ पद पर कार्यरत।
संपर्क : ई 143, खंड 21, नौएडा-201301

इस अंक के लेखक

डॉ. दिनेशचंद्र अग्रवाल	हिंदी की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर लेखन। 'भारतीय संस्कृति में सूर्य प्रतिमाओं के विशेष अध्ययन' पर संप्रति डी. लिट् कर रहे हैं। आजकल जे.वी. जैन कालेज सहारनपुर (उ.प्र.) में चित्र कला विभाग में रीडर। संपर्क : 8 कालेज फ्लैट्स, प्रद्युम्न नगर, सहारनपुर (उ.प्र.)
मंजु गुप्त	विभिन्न साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में शोधलेख, कविताएं, साक्षात्कार। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में देश-विदेश की यात्रा। वार्सा-यूनिवर्सिटी पोलैंड में कुछ वर्ष विजिटिंग प्रोफेसर। आजकल इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नयी दिल्ली में रीडर। संपर्क : 106 साउथ पार्क अपार्टमेंट्स, कालकाजी, नयी दिल्ली-110019
चंद्रप्रकाश प्रभाकर	बर्मा में जन्म। कुछ वर्ष इंडियन पब्लिक स्कूल, लाश्यो में प्रधानाध्यापक। भारत आने के बाद कुछ वर्ष तक आकाशवाणी की विदेश प्रसारण सेवा (बर्मी भाषा) में उद्घोषक। हिंदी की अनेक कृतियों का बर्मी भाषा में और बर्मी कृतियों का हिंदी में अनुवाद-रूपांतर। 'गोदान' के बर्मी में अनुवाद के लिए पुरस्कृत। संप्रति : हंसराज प्रभाकर एजुकेशन सोसायटी एवं आक्सफोर्ड सीनियर सेकेंड्री स्कूल विकास पुरी के सचिव। संपर्क : सी-487 विकासपुरी, नयी दिल्ली-110018
चंद्रकांता	सुपरिचित कथाकार। पांच कहानी संग्रह और पांच उपन्यास। हिंदी की सभी पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं। स्वतंत्र लेखन। कुछ रचनाएं पुरस्कृत। संपर्क : 769 पालम विहार, गुड़गांव-122001
श्रीकांत जोशी	प्रख्यात लेखक, कवि, संपादक। कविताओं के चार संग्रह। संपर्क : जवाहर गंज, खंडवा, मध्य प्रदेश-450001
हेमंत शेष	कवि, पांच कविता संग्रह, कला-आलोचना की पुस्तक। कविताएं दूसरी भाषाओं में अनूदित। संपर्क : सी-8, पृथ्वीराज मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302001
प्रेमरंजन अनिमेष	नवोदित रचनाकार। कविता, कहानी और गजल। 'तमाशबीन' 'पेड़ होती हुई लड़की' कहानियां विशेष चर्चित। संपर्क : 54 एल. आई. सी. कालोनी, कंकड़ बाग पटना-20
मधुर शास्त्री	सुपरिचित कवि-गीतकार। कविताओं के संग्रह। संस्कृत में कहानियों के अनुवाद, स्वतंत्र लेखन। संपर्क : 58/1 ए, सै-2, कालीबाड़ी मार्ग, नयी दिल्ली
अरविंद त्रिपाठी	पिछले एक दशक से समकालीन साहित्य-सृजन के क्षेत्र में सक्रिय। कवि एवं आलोचक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं। संपादन-कार्य। संप्रति : आकाशवाणी, नयी दिल्ली में कार्यरत। संपर्क : 4 सफदरजंग लेन, नयी दिल्ली।
ए. एल. श्रीवास्तव	अब तक नौ पुस्तकें, अस्सी शोध पत्र, दो सौ लेख, कविताएँ, कहानियां। देश-विदेश के प्राच्यविद्या सम्मेलनों में शिरकत। आजकल इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सी.एम.पी. कालेज में प्राचीन इतिहास संस्कृति, पुरातत्त्व विभाग में व्याख्याता हैं। संपर्क : स्टाफ क्वार्टर्स, 5/डी/4, लिडिल रोड, जार्जटाउन, इलाहाबाद।